धर्मपाल समग्र लेखन

८.

गांधी को समझें

धर्मपाल

अनुवाद

इन्दुमति काटदरे

धर्मपाल समग्र लेखन ८
गांधी को समझें

लेखक
धर्मपाल

सम्पादक
इन्दुमति काटदरे

अनुवाद
इन्दुमति काटदरे

सर्वाधिकार
पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद

प्रकाशक
पुनरुत्थान ट्रस्ट,
४, वसुंधरा सोसायटी, आनन्दपार्क, कांकरिया, अहमदाबाद - ३८००२८
दूरभाष : ०७९ - २५३२२६५५

मुद्रक
साधना मुद्रणालय ट्रस्ट
सिटी मिल कम्पाउण्ड, कांकरिया मार्ग, अहमदाबाद - ३८००२२
दूरभाष : ०७९ - २५४६७७९०

मूल्य : रु. १२५-००

प्रति
२,०००

प्रकाशन तिथि
चैत्र शुक्ल १, वर्षप्रतिपदा, युगाब्द ५१०९
२० मार्च २००७

अनुक्रमणिका

मनोगत

सम्पादकीय

१. गांधीयुग का बालक १

२. हिन्द स्वराज १५

३. प्रौद्योगिकी २९

४. भारत की मुक्ति ४७

५. गांधीजी के जीवनमूल्य ६४

६. गांधीजी का लक्ष्य ८५

७. सेवाग्राम : एक नई शुरुआत १११

धर्मपाल समग्र लेखन

ग्रन्थ सूची

१. भारतीय चित्त, मानस एवं काल

२. १८ वीं शताब्दीमें भारतमें विज्ञान एवं तंत्रज्ञान : कतिपय समकालीन यूरोपीय वृत्तान्त
Indian Science and Technology in the Eighteenth Century : Some Contemporary European Accounts

३. भारतीय परम्परामें असहयोग
Civil Disobedience in Indian Tradition

४. रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा
The Beautiful Tree : Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century

५. पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र
Panchayat Raj and Indian Polity

६. भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल
The British Origin of Cow slaughter in India

७. भारतकी लूट एवं बदनामी : १९ वीं शताब्दी की अंग्रेजों की जिहाद
Despoliation and Defaming of India :
The Early Nineteenth Century of British crusade

८. गांधी को समझें
Understanding Gandhi

९. भारत की परम्परा
Eassys in Tradition, Recovery and Freedom

१०. भारत का पुनर्बोध
Rediscovering India

मनोगत

गांधीजी के अगस्त १९४२ के 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन के कुछ समय पूर्व से ही मैं देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्णरूप से प्रभावित हो चुका था। उस समय मैंने जीवन के बीस वर्ष पूरे किए थे। अगस्त १९४२ में, हम दो चार मित्र, जिनमें मित्र श्री जगदीश प्रसाद मित्तल प्रमुख थे, उत्तरप्रदेश से 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के लिए ही कांग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में भाग लेने मुम्बई गए। मैंने उससे पूर्व १९३० का लाहौर का कांग्रेस सम्मेलन देखा था, परन्तु मुम्बई के सम्मेलन का स्वरूप और अपेक्षाएँ हमारे लिए एकदम नई थीं। सम्मेलन में हमें दर्शक के रूप में भाग लेने की अनुमति मिल गई। हमने वहाँ की सम्पूर्ण कार्यवाही देखी, सभी भाषण सुने। ८ अगस्त की सायंकाल का गांधीजी का सवा दो घण्टे का भाषण तो मुझे आज भी कुछ कुछ याद है। उन्होंने प्रथम डेढ़ घण्टा हिन्दी में भाषण दिया, फिर पौन घण्टा अंग्रेजी में। सम्मेलन में ५० हजार से अधिक भीड़ थी। सभी उपस्थित लोगों से, सभी भारतवासियों से तथा विश्व के सभी देशों से गांधीजी का मुख्य निवेदन तो यही था कि वे सभी भारत और अंग्रेजों के वार्तालाप में सहायक हों । हमारे जैसे अधिकांश लोगों ने उस समय विचार किया होगा कि आन्दोलन का प्रारम्भ तो कुछ समय बाद ही होगा।

परन्तु दूसरे ही दिन सवेरे ५-६ बजे से ही पूरे मुम्बई में हलचल शुरू हो गई। मुम्बई से बाहर जानेवाली रेलागाड़ियां दोपहर के बाद तक बन्द रहीं। अंग्रेज और भारतीय पुलिस व्यापक रूप से लोगों की गिरफ्तारी करती रही। अन्तत: ९ अगस्त को शाम तक हमें दिल्ली जाने के लिए गाड़ी मिल गई। परन्तु रास्ते भर हलचल थी और गिरफ्तारियां हो रही थीं। हममें से अधिकांश लोग अपनी अपनी जगह पहुँचकर 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू करनेवाले थे।

दिल्ली पहुँचकर मैं अन्य साथियों के साथ आसपास के क्षेत्रों में चल रहे आन्दोलन में जुड़ गया। कितने महीने तक इसी में ही संलग्न रहा। उस बीच अनेक गाँवों और कसबों में भी गया। वहाँ लोगों के घरों में रहा। वहीं से ही भारत के सामान्य जीवन

के साथ मेरा परिचय प्रारम्भ हुआ। दिसम्बर १९४२ में अनेक घनिष्ठ मित्रों ने सलाह दी की मुझे आन्दोलन के काम के लिए मुम्बई जाना चाहिए। इसलिए फरवरी १९४३ में मैं मुम्बई गया और वहाँ रहा। आन्दोलन का साहित्य लेकर वाराणसी और पटना भी गया। मुम्बई में गांधीजी के निकटस्थ स्वामी आनन्द ने मेरे रहने खाने की व्यवस्था की थी। वे अलग अलग लोगों से मेरा परिचय भी कराते थे। वस्तुत: मेरा मुम्बई के साथ परिचय तो उनके कारण ही हुआ। मुम्बई में ही मैं श्रीमती सुचेता कृपलानी से भी एक दो बार मिला। उसी प्रकार गिरिधारी कृपलानी से मिलना हुआ। उस समय मैं खादी का धोती कुर्ता पहनता था और स्वामी आनन्द आदि के आग्रह के बाद भी मैंने कभी पतलून आदि नहीं पहना।

मार्च १९४२ में मैं मुंबई से दिल्ली और उत्तरप्रदेश गया। अप्रैल १९४३ में दिल्ली के चाँदनीचौक पुलिस थाने में मेरी गिरफ्तारी हुई और लगभग दो महीने अलगअलग थानों में रहा। वहाँ मेरी गहन पूछताछ हुई, धमकाया भी गया। यद्यपि मारपीट नहीं हुई। जून १९४३ में मुझे सरकार के आदेशानुसार दिल्ली से निष्कासित किया गया। एकाध वर्ष बाद यह निष्कासन समाप्त हुआ।

लम्बे अरसे से मेरा मन गाँव में जाकर रहने और काम करने का था। मेरे एक पारिवारिक मित्र गोरखपुर जिले के एक हजार एकड़ जितने विशाल फार्म के मैनेजर थे। उन्होंने मुझे फार्म पर आकर रहने के लिए निमंत्रण दिया। यह फार्म सुन्दर तो था परन्तु यह तो वहाँ रहनेवालों से कसकर परिश्रम कराने की जगह थी। गाँव जैसा सामूहिकता का वातावरण वहाँ नहीं होता था। वहाँ गाँव के लोगों से मिलने, बात करने का अवसर भी नहीं मिलता था। परन्तु एक बात मैंने देखी कि वहाँ लोग गरीब होने के बाद भी प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे।

एक वर्ष बाद जून अथवा जुलाई १९४४ में यह फार्म छोड़ कर मैं वापस आ गया। तत्काल ही मेरठ के मित्रों ने मुझे श्रीमती मीराबहन के पास जाने की सलाह दी। मीरा बहन रूड़की के निकट एक आश्रम स्थापित करने का विचार कर रही थीं। बात सुनकर मैंने पहले तो मना करने का प्रयास किया परन्तु मित्रों के आग्रह के कारण अक्टूबर १९४४ में मैं मीराबहन के पास गया। रूड़की से हरिद्वार की दिशा में सात-आठ मील दूर गाँव वालों ने मीरा बहन को आश्रम निर्माण के लिए जमीन दी थी। आश्रम हरिद्वार से बारह मील दूर था। आश्रम का नाम दिया गया 'किसान आश्रम'। यहीं से मेरा ग्रामजीवन और उसके रहनसहन के साथ परिचय शुरू हुआ। उनकी कुशलताएँ और अपने व्यवहार, रहन सहन तथा उपाय ढूंढ निकालने की योग्यता मुझे यहीं जानने

को मिली। मैं तीन वर्ष किसान आश्रम में रहा। उसके बाद पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के पुनर्वसन का कार्य चलता था उसमें सहयोग देने के लिए मैं दिल्ली गया। उस दौरान मेरा अनेक लोगों के साथ परिचय हुआ। उसमें मुख्य थीं कमलादेवी चट्टोपाध्याय और डॉ. राममनोहर लोहिया। १९४७ से १९४९ के दौरान श्री रामस्वरूप, श्री सीताराम गोयल, श्री रामकृष्ण चाँदीवाले (उनके घर में मैं महीनों रहा), श्री नरेन्द्र दत्त, श्रीमती स्वर्णा दत्त, श्री लक्ष्मीचन्द जैन, श्री रूपनारायण, श्री एस. के. सक्सेना, श्री ब्रजमोहन तूफ़ान, श्री अमरेश सेन, श्री गोपालकृष्ण आदि के साथ भी मित्रता हुई।

दिल्ली में भारतीय सेना के कुछ अधिकारियों ने कहा कि फिलिस्तीन के यहूदी इज़रायल नामक छोटा देश बना रहे हैं। वहाँ सामूहिकता के आधार पर जीवन रचना के महत्त्वपूर्ण प्रयास हो रहे हैं। उन लोगों ने इतने आकर्षक ढंग से उसका वर्णन किया कि मैंने इज़रायल जाकर यह देखकर आने का निर्णय किया। नवम्बर १९४९ में इज़रायल जाने के लिए मैं इंग्लैण्ड गया। वहाँ आठदस महीने रह कर नवम्बर-दिसम्बर में मैं पत्नी फ़िलिस के साथ इज़रायल तथा अन्य अनेक देशों में गया। इज़रायल के लोगों ने जो कर दिखाया था वह तो बहुत प्रशंसनीय और श्रेष्ठ कार्य था परन्तु भारतीय ग्रामरचना और भारतीय व्यवस्थाओं में उस का बहुत उपयोग नहीं है, ऐसा भी लगा।

जनवरी १९५० में मैं और फिलिस हृषीकेश के निकट निर्माणाधीन, मीराबहन के 'पशुलोक' में पहुँच गये। वहाँ मीराबहनने, मेरे अन्य मित्रों, और सविशेष मार्कसवादी मित्र जयप्रकाश शर्मा के साथ मिलकर एक नए छोटे गाँव की रचना की शुरुआत की थी। उसका नाम रखा गया 'बापूग्राम'। गाँव ५० घरों का था। उसमें सभी पहाड़ी और मैदानी जाति के लोग साथ रहेंगे ऐसा प्रयास किया था। यह भी ध्यान रखा गया कि लोग अत्यन्त गरीब हों। परंतु उस के कारण गाँव की रचना का काम अधिक कठिन हो गया। गाँव के लोगों के कष्ट बढ़े। गाँव में ५०० एकड़ जमीन थी, किन्तु अनेक जंगली जानवर भी वहाँ घूमते थे। हाथी भी वहाँ आता-जाता रहता। इस लिए प्रारम्भ में खेती भी बहुत दुष्कर थी। खेती में कुछ बचता ही नहीं था। आज भी यह गाँव जैसे तैसे टिका हुआ है। १९५७ से गाँव के साथ मेरा सम्बन्ध ठीक-ठीक बढ़ा। मैं विभिन्न पंचायतों का अध्ययन करता था। इसलिए गाँव के लोगों की समझदारी और अपने प्रश्नों की ओर देखने और उसे हल करने का उनका दृष्टिकोण भलीभाँति ध्यान में आने लगा। इस बात का भी एहसास होने लगा कि अपने अधिकांश शहरी और समृद्ध लोग गाँव को जानते ही नहीं। राजस्थान, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि राज्यों में तो यह एहसास सविशेष हुआ। इस एहसास के कारण ही मैं १९६४-६५ में सन् १९०० के आसपास के अंग्रेजों

द्वारा तैयार किए गए दस्तावेजों के अध्ययन की ओर मुड़ा।

लगभग १७५० से १८५० तक अंग्रेजों ने सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर इंग्लैण्ड में रहने वाले अपने अधिकारियों तथा परिचितों को लिखे पत्रों की संख्या शायद करोड़ों दस्तावेजों में होगी। उसमें ८० से ८५ प्रतिशत की प्रतिलिपियां भारत के कोलकता, मद्रास, मुम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के अभिलेखागारों में भी हैं। लन्दन की ब्रिटिश इंड़िया ऑफ़िस में और अन्य अनेक अभिलेखागारों में पाँच से सात प्रतिशत ऐसे भी दस्तावेज होंगे जो भारत में नहीं होंगे। उसमें से बहुत से ऐसे हैं जिनके अध्ययन से अंग्रेजों ने भारत में क्या किया यह समझ में आता है। उस समय के इंग्लैण्ड के समाज और शासन तंत्र की यदि हमें जानकारी होगी तो अंग्रेजों ने भारत में जो किया उसे समझने में सहायता मिल सकती है।

१९५७ से ही, जब मैं एवार्ड (Association of Voluntary Agencies for Rural Development [AVARD]) का मंत्री बना तब से ही अनेक प्रकार से सीखने का अवसर मिला और अनेक व्यक्तियों की अनेक प्रकार से सहायता भी मिली। उसमें मुख्य थे श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे और श्री जयप्रकाश नारायण। नागपुर के श्री आर. के. पाटिल ने भी १९५८ से १९८० तक इस काम में बहुत रुचि ली और अलग अलग ढंग से सहायता करते रहे। श्री आर. के. पाटिल पुराने आई. सी. एस. थे, योजना आयोग के सदस्य थे, पूर्व मध्यप्रदेश के मंत्री थे और विनोबा जी के निकटवर्ती थे। १९७१ से गांधी शांति प्रतिष्ठान के मंत्री श्री राधाकृष्ण का सहयोग भी बहुत मूल्यवान था। इसी प्रकार गांधी विद्या संस्थान और पटना की अनुग्रह नारायण सिन्हा इन्स्टीटयूट का भी सहयोग मिला। डॉ. डी. एस. कोठारी भी शुरू से ही उसमें रुचि लेते थे।

१९७१ में 'इंड़ियन सायन्स एण्ड टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' Indian Science and Technology in the Eighteenth Century और 'सिविल डिसओबिड़ियन्स इन इंड़ियन ट्रेड़िशन' Civil Disobedience in Indian Tradition ऐसी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनका विमोचन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ. दौलतसिंह कोठारी ने किया। पहले ही दिन से उस पुस्तक का परिचय करनेवाले प्रजा समाजवादी पक्ष के नेता और साहित्यकार श्री गंगाशरण सिन्हा, विवेकानंद केन्द्र, कन्याकुमारी के श्री एकनाथ रानडे और अमेरिका की बर्कले यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर यूजिन ईर्शिक थे। ईर्शिक के मतानुसार 'सिविल डिसओबिडियन्स इन ईड़ियन ट्रेड़िशन' मेरी सबसे उत्तम पुस्तक थी। श्री रामस्वरुप और श्री ए. बी. चटर्जी, जो आई. सी. एस. थे और मिनिस्ट्री ऑफ़ स्टेट्स के सचिव थे, उनके मतानुसार 'इंड़ियन सायन्स एण्ड

टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। १९७१ से १९८५ के दौरान इन दोनों पुस्तकों का अनेक प्रकार से उल्लेख होता रहा। देशभर में इसका उल्लेख करनेवालों में मुख्य थे श्री जयप्रकाश नारायण, श्री रामस्वरुप और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के श्री एकनाथ रानड़े, प्रोफ़ेसर राजेन्द्रसिंह और वर्तमान सरसंघचालक श्री सुदर्शन जी।

अभी तक ये पुस्तकें मुख्य रूप से अंग्रेजी में ही हैं। उसका एक विशेष कारण यह है कि उसमें समाविष्ट दस्तावेज सन् १८०० के आसपास अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय लोगों ने अंग्रेजी में ही लिखे हैं। प्रारंभ में ही यह सब हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषा में प्रकाशित करना बहुत मुश्किल लगता था। लेकिन जब तक यह सब भारतीय भाषाओं में प्रकाशित नहीं होता तब तक सर्वसामान्य लोग दो सौ वर्ष पूर्व के भारत के विषय में न जान सकेंगे, न समझ सकेंगे, और न ही चर्चा कर सकेंगे।

इसलिए इन पुस्तकों का अब हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो रहा है यह बहुत प्रशंसनीय कार्य है।[१]

मैं १९६६ तक अधिकांशतः इंग्लैण्ड और सविशेष लन्दन में रहा। उस समय भारत से सम्बन्धित वहाँ स्थित दस्तावेजों में से पांच अथवा दस प्रतिशत सामग्री का मैंने अवलोकन किया होगा। उनमें से कुछ मैंने ध्यान से देखे, कुछ की हाथ से नकल उतार ली, अनेकों की छायाप्रति बना ली। उस दौरान बीच बीच में भारत आकर कोलकता, लखनऊ, मुम्बई, दिल्ली और चेन्नई के अभिलेखागारों में भी कुछ नए दस्तावेज देखे।

उन दस्तावेजों के आधार पर अभी गुजरात से प्रकाशित हो रही अधिकांश पुस्तकें तैयार की गई हैं। ये पुस्तकें जिस प्रकार सन् १८०० के समय के भारत से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार १८८० से १९०३ के दौरान गोहत्या के विरोध में हुए आन्दोलन के और १८८० के बाद के दस्तावेजों के आधार पर लिखी गई हैं। उनमें एकाध पुस्तक इंग्लैण्ड और अमेरिका के समाज से भी सम्बन्धित है। इसकी सामग्री इंग्लैण्ड में मिली है और यह पढ़ी गई पुस्तकों के आधार पर तैयार की गई है।

१९६० से शुरू हुए इस प्रयास का मुख्य उद्देश्य दो सौ वर्ष पूर्व के भारतीय समाज को समझना ही था। लेकिन मात्र जानना, समझना पर्याप्त नहीं है। उसका इतना महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व तो यह जानने समझने का है कि अंग्रेजों से पूर्व का स्वतंत्र भारत, जहाँ उसकी स्थानिक इकाइयां अपनी अपनी दृष्टि और आवश्यकतानुसार अपना समाज चलाती थीं, वह कैसा रहा होगा। अचानक १९६४-६५ में चेन्नई के एगमोर

अभिलेखागार में ऐसी सामग्री मुझे मिली, और ऐसी ही सामग्री इग्लैण्ड में उससे भी सरलता से मिली। यदि मैं पोर्टुगल और हॉलेण्ड की भाषा जानता तो १६ वीं, १७ वीं सदी में वहाँ भी भारत के विषय में क्या लिखा गया है यह जान पाता। खोजने के बाद भी चालीस वर्ष पूर्व भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के वर्णन नहीं मिले।

हमें तो गत दो तीन हज़ार वर्ष के भारत और उसके समाज को समझने की आवश्यकता है। हम जब उस तरह से समझेंगे तभी भारतीय समाज की पारम्परिक व्यवस्थाओं, तंत्रों, कुशलताओं और आज की अपनी आवश्यकताओं और अपनी क्षमता के अनुसार पुनःस्थापना की रीति भी जान लेंगे और समझ लेंगे।

भारत बहुत विशाल देश है। चार पाँच हज़ार वर्षों में पड़ोसी देश - ब्रह्मदेश, श्रीलंका, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, इंड़ोनेशिया, वियतनाम, कम्बोड़िया, मलेशिया, अफ़गानिस्तान, ईरान आदि के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीयों का स्वभाव और उनकी मान्यताएँ उन देशों के साथ बहुत मिलती जुलती हैं। सन् १५०० के बाद एशिया पर यूरोप का प्रभाव बढ़ा उसके बाद उन सभी पडोसी देशों के साथ की पारस्परिकता लगभग समाप्त हो गई है। उसे पुन: स्थापित करना ज़रूरी है। इसी प्रकार यूरोप, खासकर इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ तीन सौ चार सौ वर्षों से जो सम्बन्ध बढ़े हैं उनका भी समझ बूझकर फिर से मूल्यांकन करना जरूरी है। यह हमारे लिए और उनके लिए भी श्रेयस्कर होगा। देशों को बिना जरूरत से एक दूसरे के अधिक निकट लाना अथवा एक देश दूसरे देश की ओर ही देखता रहे यह भविष्य की दृष्टि से भी कष्टदायी साबित हो सकता है।

मकरसंक्राति
१४, जनवरी २००५
पौष शुद ५, युगाब्द ५१०६

धर्मपाल
आश्रम प्रतिष्ठान
सेवाग्राम
जिला वर्धा (महाराष्ट्र)

---

१. यह प्रस्तावना गुजराती अनुवाद के लिये लिखी गई है। हिन्दी अनुवाद के लिये श्री धर्मपालजी की ही सूचना के अनुसार उसे यथावत् रखा है : मूल प्रस्तावना हिन्दी में ही है, गुजराती के लिये उसका अनुवाद किया गया था। - सं.

सम्पादकीय

१.

सन् १९९२ के जनवरी मास में चैन्नई में विद्याभारती का प्रधानाचार्य सम्मेलन था। उस सम्मेलन में श्री धर्मपालजी पधारे थे। उस समय पहली बार The Beautiful Tree के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई। दो वर्ष बाद कोईम्बतूर में यह पुस्तक खरीद की और पढ़ी। पढ़कर आश्चर्य और आघात दोनों का अनुभव हुआ। आश्चर्य इस बात का कि हम इतने वर्षों से शिक्षा क्षेत्र में कार्यरत हैं तो भी इस पुस्तक में निरूपित तथ्यों की लेशमात्र जानकारी हमें नहीं है। आघात इस बात का कि शिक्षा विषयक स्थिति ऐसी दारुण है तो भी हम उस विषय में कुछ कर नहीं रहे हैं। जो चल रहा है उसे सह लेते हैं और उसे स्वीकृत बात ही मान लेते हैं ।

तभी से उस पुस्तक का प्रथम हिन्दी में और बाद में गुजराती में अनुवाद करके अनेकानेक कार्यकर्ताओं और शिक्षकों तक उसे पहुँचाने का विचार मन में बैठ गया। परन्तु वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। प्रवास की निरन्तरता और अन्यान्य कार्यों में व्यस्तता के कारण मन में स्थित विचार को मूर्त स्वरूप दे पाने का अवसर नहीं आया। इस बीच विद्या भारती विदर्भ ने इसका संक्षिप्त मराठी अनुवाद प्रकाशित किया। 'भारतीय चित्त, मानस एवं काल', 'भारत का स्वधर्म' जैसी पुस्तिकायें भी पढ़ने में आयीं। अनेक कार्यकर्ता भी इसका अनुवाद होना चाहिये ऐसी बात करते रहे। इस बीच पूजनीय हितरुचि विजय महाराजजी ने गोवा के 'द अदर इंड़िया बुक प्रेस' द्वारा प्रकाशित पांच पुस्तकों का संच दिया और पढ़ने के लिये आग्रह भी किया। इन सभी बातों के निमित्त से अनुवाद भले ही नहीं हुआ परन्तु अनुवाद का विचार मन में जाग्रत ही रहा। उसका निरन्तर पोषण भी होता रहा। चार वर्ष पूर्व मुझे विद्याभारती की राष्ट्रीय विद्वत् परिषद के संयोजक का दायित्व मिला। तब मन में इस अनुवाद के विषय में निश्चय सा हुआ। उस विषय में कुछ ठोस बातें होने लगीं। अन्त में पुनरुत्थान ट्रस्ट इस अनुवाद का प्रकाशन करेगा ऐसा निश्चय युगाब्द ५१०६ की व्यास पूर्णिमा को हुआ। सर्व प्रथम तो यह अनुवाद

हिन्दी में ही होना था। उसके बाद हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषओं में करने का विचार हुआ। परन्तु इस कार्य के व्याप को देखते हुए लगा कि दोनों कार्य एक साथ नहीं हो पायेंगे । एक के बाद एक करने पड़ेंगे।

साथ ही ऐसा भी लगा कि यह केवल प्रकाशन के लिये प्रकाशन, अनुवाद के लिये अनुवाद तो है नहीं। इसका उपयोग विद्वज्जन करें और हमारे छात्रों तक इन बातों को पहुँचाने की कोई ठोस एवं व्यापक योजना बने इस हेतु से इस सामग्री का भारतीय भाषाओं में होना आवश्यक है। ऐसे ही कार्यों को यदि चालना देनी है तो प्रथम इसका क्षेत्र सीमित करके ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। इस दृष्टिसे प्रथम इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित करना ही अधिक उपयोगी लगा।

निर्णय हुआ और तैयारी प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम श्री धर्मपालजी की अनुमति आवश्यक थी। हम उन्हें जानते थे परन्तु वे हमें नहीं जानते थे। परन्तु हमारे कार्य, हमारी योजना और हमारी तैयारी जब उन्होंने देखी तब उन्होंने अनुमति प्रदान की। साथ ही उन्होंने अपनी और पुस्तकों के विषय में भी बताया। इन सभी पुस्तकों के अनुवाद का सुझाव भी दिया।

हम फिर बैठे। फिर विचार हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि जब कर ही रहे हैं तो काम पूरा ही किया जाय।

इस प्रकार एक से पांच और पांच से ग्यारह पुस्तकों के अनुवाद की योजना आखिर बन गई।

योजना तो बन गई परन्तु आगे का काम बड़ा विस्तृत था। भिन्न भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित मूल अंग्रेजी पुस्तकें प्राप्त करना, उन्हें पढ़ना, उनमें से चयन करना, अनुवादक निश्चित करना आदि समय लेनेवाला काम था। अनुवादक मिलते गये, कई पक्के अनुवादक खिसकते गये, अनेपक्षित रूप से नये मिलते गये और अन्त में पुस्तक और अनुवादकों की जोड़ी बनकर कार्य प्रारम्भ हुआ और सन २००५ और युगाब्द ५१०६ की वर्ष प्रतिपदा को कार्य सम्पन्न भी हो गया। १६ अप्रैल २००५ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के परम पूजनीय सरसंघचालक माननीय सुदर्शनजी एवं स्वयं श्री धर्मपालजी की उपस्थिति में तथा अनेपक्षित रूप से बडी संख्या में उपस्थित श्रोतासमूह के मध्य इन गुजराती पुस्तकों का लोकार्पण हुआ।

प्रकाशन के बाद भी इसे अच्छा प्रतिसाद मिला। विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, ग्रन्थालयों में एवं विद्वज्जनों तक इन पुस्तकों को पहुँचानें में हमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। साथ ही साथ महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के अध्यापकों एवं

प्रधानाचार्यों के बीच इन पुस्तकों को लेकर गोष्ठियों का आयोजन भी हुआ।

इसके बाद सभी ओर से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह बढने लगा। स्वयं श्री धर्मपालजी भी इस कार्य के लिये प्रेरित करते रहे। अनेक वरिष्ठजन भी पूछताछ करते रहे। अन्त में इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन तय हुआ। गुजराती अनुवाद कार्य का अनुभव था इसलिये अनुवादक ढूँढ़ने में इतनी कठिनाई नहीं हुई। सौभाग्य से अच्छे लोग सरलता से मिलते गये और कार्य सम्पन्न होता गया। आज यह आपके सामने है।

इस संच में कुल दस पुस्तकें हैं। (१) भारतीय चित्त, मानस एवं काल (२) १८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान (३) भरतीय परम्परा में असहयोग (४) रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा (५) पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र (६) भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल (७) भारत की लूट एवं बदनामी (८) गांधी को समझें (९) भारत की परम्परा एवं (१०) भारत का पुनर्बोध। सर्व प्रथम पुस्तक '१८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान' १९७१ में प्रकाशित हुई थी और अन्तिम पुस्तक 'भारत का पुनर्बोध' सन् २००३ में। इनके विषय में तैयारी तो सन् १९६० से ही प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार यह ग्रंथसमूह चालीस से भी अधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान का परिणाम है।

२.

विश्व में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली, परम्परा, मान्यताओं, दैनन्दिन व्यवहार आदि के द्वारा निर्मित होती है। उसे ही संस्कृति कहते हैं।

सामान्य रूप से विश्व में दो प्रकार की विचारशैली, व्यवहारशैली दिखती हैं। एक शैली दूसरों को अपने जैसा बनाने की आकांक्षा रखती है। अपने जैसा ही बनाने के लिए यह जबर्दस्ती, शोषण, कत्लेआम आदि करने में भी हिचकिचाती नहीं, यहां तक की ऐसा करने में दूसरा समाप्त हो जाय तो भी उसे परवाह नहीं। दूसरी शैली ऐसी है जो सभी के स्वत्व का समादर करती है, उनके स्वत्व को बनाए रखने में सहायता करती है। ऐसा करने में दोनों एक दूसरे स प्रभावित होती हैं और सहज परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वत्व बना रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से पहली यूरोपीय अथवा अमेरिकी शैली है तो दूसरी भारतीय। इन दोनों के लिए क्रमशः 'पाश्चात्य' और 'प्राच्य' ऐसी अधिक व्यापक

संज्ञा का प्रयोग हम करते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति विश्व में अति प्राचीन है। केवल प्राचीन ही नहीं तो समृद्ध, सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और विकसित भी है।

परन्तु आज से ५०० वर्ष पूर्व यूरोप ने विस्तार करना शुरू किया। समग्र विश्व में फैल जाने की उसको आकांक्षा थी। विश्व के अन्य देशों के साथ भारत भी उसका लक्ष्य था। इंग्लैण्ड में ईस्ट इंड़िया कम्पनी बनी। वह भारत में आई। समुद्रतटीय प्रदेशों में उसने अपने व्यापारिक केन्द्र बनाए। उन केन्द्रों को किले का नाम और रूप दिया, उनमें सैन्य भी रखा, धीरे धीरे व्यापार के साथ साथ प्रदेश जीतने और अपने कब्जे में लेने का काम शुरू किया, साथ ही साथ ईसाईकरण भी शुरू किया। सन् १८२० तक लगभग सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के कब्जे में चला गया।

भारत को अपने जैसा बनाने के लिए अंग्रेजों ने यहाँ की सभी व्यवस्थाओं- प्रशासकीय और शासकीय, सामाजिक और सांस्कृतिक, आर्थिक और व्यावसायिक, शैक्षणिक और नागरिक को तोड़ना शुरू किया। उन्होंने नए कायदे कानून बनाए, नई व्यवस्थाएँ बनाईं, संरचनाओं का निर्माण किया, नई सामग्री और नई पद्धति की रचना की और जबरदस्ती से उसका अमल भी किया। यह भी सच है कि उन्होंने भारत में आकर जो कुछ किया उसमें से अधिकांश तो इंग्लैण्डमें अस्तित्व में था। इसके कारण भारत दरिद्र होता गया। भारत में वर्ग संघर्ष पैदा हुए। लोंगो का आत्मसम्मान और गौरव नष्ट हो गया। मौलिकता और सृजनशीलता कुंठित हो गई, मूल्यों का ह्रास हुआ। मानवीयता का स्थान यांत्रिकता ने लिया और सर्वत्र दीनता व्याप्त हो गई। लोग स्वामी के स्थान पर दास बन गए। एक ऐसे विराट, राक्षसी, अमानुषी व्यवस्था के पुर्जे बन गये जिसे वे बिल्कुल मानते नहीं, समझते नहीं और स्वीकार भी करते नहीं थे, क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था।

भारत की शिक्षाव्यवस्था की उपेक्षा करते करते उसे नष्ट कर उसके स्थान पर यूरोपीय शिक्षा लागू करने, प्रतिष्ठित करने का कार्य भारत को तोडने की प्रक्रिया में सिरमौर था। क्योंकि यूरोपीय शिक्षाप्राप्त लोगों के विचार, मानस, व्यवहार, दृष्टिकोण सभी कुछ बदलने लगा। उसका परिणाम सर्वाधिक शोचनीय और घातक हुआ। हमें गुलामी रास आने लगी। दैन्य अखरना बन्द हो गया। अंग्रेजों का दास बनने में ही हमें गौरव का अनुभव होने लगा। जो भी यूरोपीय है वह विकसित है, आधुनिक है, श्रेष्ठ है और जो भी अपना है वह निकृष्ट है, हीन है और लज्जास्पद है, गया बीता है ऐसा हमें लगने लगा। अपनी शिक्षण संस्थाओं में हम यही मानसिकता और यही विचार एक के

बाद एक आनेवाली पीढ़ी को देते गए। इस गुलामी की मानसिकता के आगे अपनी विवेकशील और तेजस्वी बुद्धि भी दब गई। यूरोपीय, या यूरोपीय जैसा बनना ही हमारी आकांक्षा बन गई। देश को वैसा ही बनाने का प्रयास हम करने लगे। अपनी संरचनाएँ, पद्धतियां, संस्थाएँ वैसी ही बन गई।

गांधीजी १९१५ में दक्षिण अफ्रिका से भारत आए तब भारत ऐसा था। उन्होंने जनमानस को जगाया, उसमें प्राण फूंके, उसकी भावनाओं को अपने वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त कर, भारत के लिए योग्य हज़ारों वर्षों की परम्परा के अनुसार व्यवस्थाओं, गतिविधियों और पद्धतियों को प्रतिष्ठित किया और भारत को फिर से भारत बनाने का प्रयास किया। स्वतंत्रता के साथ साथ स्वराज को भी लाने के लिए वे जूझे।

परंतु स्वतंत्रता मात्र सत्ता का हस्तान्तरण (Transfer of Power) ही बन कर रह गया। उसके साथ स्वराज नहीं आया। सुराज्य की तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

आज की अपनी सारी अनवस्था का मूल यह है। हम अपनी जीवनशैली चाहते ही नहीं हैं। स्वतंत्र भारत में भी हम यूरोप अमेरिका की ओर मुँह लगाये बेठे हैं। यूरोप के अनुयायी बनना ही हमें अच्छा लगता है।

परन्तु, यह क्या समग्र भारत का सच है ? नहीं, भारत की अस्सी प्रतिशत जनसंख्या यूरोपीय विचार और शैली जानती भी नहीं और मानती भी नहीं है। उसका उसके साथ कुछ लेना देना भी नहीं है। उनके रीतिरिवाज, मान्यताएं, पद्धतियां, सब वैसी की वैसी ही हैं। केवल शिक्षित लोग उन्हें पिछड़े और अंधविश्वासी कहकर आलोचना करते हैं, उन्हें नीचा दिखाते हैं और अपने जैसा बनाना चाहते हैं। यही उनकी विकास और आधुनिकताकी कल्पना है।

भारत वस्तुतः तो उन लोगों का बना हुआ है, उन का है। परन्तु जो बीस प्रतिशत लोग हैं वे भारत पर शासन करते हैं। वे ही कायदे-कानून बनाते हैं और न्याय करते हैं, वे ही उद्योग चलाते हैं और कर योजना करते हैं। वे ही पढ़ाते हैं और नौकरी देते हैं, वे ही खानपान, वेशभूषा, भाषा और कला अपनाते हैं (जो यूरोपीय हैं) और उनको विज्ञापनों के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ के अस्सी प्रतिशत लोगों को वे पराये मानते हैं, बोझ मानते हैं, उनमें सुधार लाना चाहते हैं और वे सुधरते नहीं इसलिए उनकी आलोचना करते हैं। वे लोग स्वयं तो यूरोपीय जैसे बन ही गए हैं, दूसरों को भी वैसा ही बनाना चाहते हैं। वे जैसे कि भारत को यूरोप के हाथों बेचना ही चाहते हैं, जिन लोगों का भारत है वे तो उनकी गिनती में ही नहीं हैं।

इस परिस्थिति को हम यदि बदलना चाहते हैं तो हमें अध्ययन करना होगा -

स्वयं का, अपने इतिहास का और अपने समाज का। भारत को तोड़ने की प्रक्रिया को जानना और समझना पड़ेगा। भारत का भारतीयत्व क्या है, किसमें है, किस प्रकार बना हुआ है यह सब जानना और समझना पड़ेगा। मूल बातों को पहचानना होगा। देश के अस्सी प्रतिशत लोगों का स्वभाव, उनकी आकांक्षाएँ, उनकी व्यवहारशैली को जानना और समझना पड़ेगा। उनका मूल्यांकन पश्चिमी मापदण्डों से नहीं अपितु अपने मापदण्डों से करना पड़ेगा। उसका रक्षण, पोषण और संवर्धन कैसे हो यह देखना पड़ेगा। भारत के लोगों में साहस, सम्मान, आत्मगौरव जाग्रत करना पड़ेगा। भारत के पुनरुत्थान में उनकी बुद्धि, भावना, कर्तृत्वशक्ति और कुशलताओं का उपयोग कर उन्हें सच्चे अर्थ में सहभागी बनाना पड़ेगा। यह सब हमें पाश्चात्य प्रकार की युनिवर्सिटियों से नहीं अपितु सामान्य, 'अशिक्षित', 'अर्धशिक्षित' लोगों से सीखना होगा।

आज भी यूरोप बनने की इच्छा करनेवाला भारत जोरों से प्रयास कर रहा है और कुंठाओं का शिकार बन रहा है। भारतीय भारत उलझ रहा है, छटपटा रहा है, और शोषित हो रहा है। भाग्य केवल इतना है कि क्षीणप्राण होने पर भी भारतीय भारत गतप्राण नहीं हुआ है। इसलिए अभी भी आशा है - उसे सही अर्थ में स्वाधीन बनाकर समृद्ध और सुसंस्कृत बनाने की।

३.

धर्मपालजी की इन पुस्तकों में इन सभी प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध, विस्तृत निरूपण किया गया है। अंग्रेज भारत में आए उसके बाद उन्होंने सभी व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए किन चालबाजियों को अपनाया, कैसा छल और कपट किया, कितने अत्याचार किए और किस प्रकार धीरे धीरे भारत टूटता गया, किस प्रकार बदलती परिस्थितियों का अवशता से स्वीकार होता गया उसका अभिलेखों के प्रमाणों सहित विवरण इन ग्रंथों में मिलता है। इंग्लैण्ड के और भारत के अभिलेखागारों में बैठकर, रात दिन उसकी नकल उतार लेने का परिश्रम कर धर्मपालजी ने अंग्रेज क्लेक्टरों, गवर्नरों, वाइसरायों ने लिखे पत्रों, सूचनाओं और आदेशों को एकत्रित किया है, उनका अध्ययन कर के निष्कर्ष निकाले हैं और एक अध्ययनशील और विद्वान व्यक्ति ही कर सकता है ऐसे साहस से स्पष्ट भाषा में हमारे लिये प्रस्तुत किया है। लगभग चालीस वर्ष के अध्ययन और शोध का यह प्रतिफल है।

परन्तु इसके फलस्वरूप हमारे लिए एक बड़ी चुनौती निर्माण होती है, क्योंकि -

- आजकल विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले इतिहास से यह इतिहास भिन्न

है। हम तो अंग्रेजों द्वारा तैयार किए और कराए गए इतिहास को पढ़ते हैं। यहाँ अंग्रेजों ने ही लिखे लेखों के आधार पर निरूपित इतिहास है।

- विज्ञान और तंत्रज्ञान की जो जानकारी उसमें है वह आज पढ़ाई ही नहीं जाती।
- कृषि, अर्थव्यवस्था, करपद्धति, व्यवसाय, कारीगरी आदि की अत्यंत आश्चर्यकारक जानकारियां उसमें है। भारत को आर्थिक रूप में बेहाल और परावलम्बी बनानेवाला अर्थशास्त्र आज हम पढ़ते हैं। यहाँ दी गई जानकारियों में स्वाधीन भारत को स्वावलम्बन के मार्ग पर चल कर समृद्धि की ओर ले जानेवाले अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों की सामग्री हमें प्राप्त होती है।
- व्यक्ति को किस प्रकार गौरवहीन बनाकर दीनहीन बना दिया जाता है इसका निरूपण है, साथ ही उस संकट से कैसे निकला जा सकता है उसके संकेत भी हैं।
- संस्कृति और समाजव्यवस्था के मानवीय स्वरूप पर किस प्रकार आक्रमण होता है, किस प्रकार उसे यंत्र के अधीन कर दिया जाता है इसका विश्लेषण यहाँ है। साथ ही उसके शिकार बनने से कैसे बचा जा सकता है, उसके लिए दृढता किस प्रकार प्राप्त होती है इसका विचार भी प्राप्त होता है।

यह सब अपने लिए चुनौती इस रूप में है कि आज हम अनेक प्रकार से अज्ञान से ग्रस्त हैं।

हमारा अज्ञान कैसा है ?

- शिक्षण विषय के वरिष्ठ अध्यापक सहजरूप से मानते हैं कि अंग्रेज आए और अपने देश में शिक्षा आई। उन्हें जब यह कहा गया कि १८ वीं शती में भारत में लाखों की संख्या में प्राथमिक विद्यालय थे, और चार सौ की जनसंख्या पर एक विद्यालय था, तो वे उसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें जब 'The Beautiful Tree' दिखाया गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ (परन्तु रोमांच अथवा आनन्द नहीं हुआ।)
- शिक्षाधिकारी, शिक्षासचिव, शिक्षा महाविद्यालय के अध्यापक अधिकांशत: इन बातों से अनभिज्ञ हैं। कुछ जानते भी हैं तो यह जानकारी बहुत ही सतही है।

यह अज्ञान सार्वत्रिक है, केवल शिक्षा विषयक ही नहीं अपितु सभी विषयों में है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वयं को ही नहीं जानते, अपने इतिहास को नहीं जानते, स्वयं को हुई हानि को नहीं जानते और अज्ञानियों के स्वर्ग में रहते हैं। यह स्वर्ग भी अपना नहीं है। उस स्वर्ग में भी हम गुलाम हैं और पश्चिममुखापेक्षी, पराधीन बनकर रह रहे हैं।

४.

इस संकट से मुक्त होना है तो मार्ग है अध्ययन का। धर्मपालजी की पुस्तकें अपने पास अध्ययन की सामग्री लेकर आई हैं, हम सो रहे हैं तो हमें जगाने के लिए आई हैं, जाग्रत हैं तो झकझोरने के लिए आई हैं, दुर्बल हैं तो सबल बनाने के लिए आई हैं, क्षीणप्राण हुए हैं तो प्राणवान बनाने के लिए आई हैं।

ये पुस्तकें किसके लिए हैं ?

ये पुस्तकें इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, जिसे आज की भाषा में ह्यूमेनिटीज़ कहते हैं, उसके विद्वानों, चिन्तकों, शोधकों, अध्यापकों और छात्रों के लिए हैं।

ये पुस्तकें भारत को सही मायने में स्वाधीन, समृद्ध, सुसंस्कृत, बुद्धिमान और कर्तृत्ववान बनाने की आकांक्षा रखने वाले बौद्धिकों, सामान्यजनों, संस्थाओं, संगठनों और कार्यकर्ताओं के लिए हैं।

ये पुस्तकें शोध करने वाले विद्वानों और शोधछात्रों के लिए हैं।

प्रश्न यह है कि इन पुस्तकों को पढ़ने के बाद क्या करें ?

धर्मपालजी स्वयं कहते हैं कि पढ़कर केवल प्रशंसा के उद्‌गार, अथवा पुस्तकों की सामग्री एकत्रित करने के परिश्रम के लिए लेखक को शाबाशी देना पर्याप्त नहीं है। उससे अपना संकट दूर नहीं होगा।

आवश्यकता है इस दिशा में शोध को आगे बढ़ाने की, भारत की १८ वीं, १९ वीं शताब्दी से सम्बन्धित दस्तावेजों में से कदाचित पांच सात प्रतिशत का ही अध्ययन इस में हुआ है। अभी भी लन्दन के, भारत की केन्द्र सरकार के तथा राज्यों के अभिलेखागारों में ऐसे असंख्य दस्तावेज अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। उन सभी का अध्ययन और शोध करने की योजना महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, शैक्षिक संगठनों और सरकार ने करना आवश्यक है। आवश्यकता के अनुसार इस कार्य के लिए अध्ययन और शोध की स्थानीय और देशी प्रकार की संस्थाएं भी बनाई जा सकती हैं।

इसके लिए ऐसे अध्ययनशील छात्रों की आवश्यकता है। इन छात्रों को मार्गदर्शन तथा संरक्षण प्राप्त हो यह देखना चाहिये।

साथ ही एक साहसपूर्ण कदम उठाना जरूरी है। विश्वविद्यालयों, और महाविद्यालयों के इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन मण्डल (बोर्ड ऑफ़ स्टडीज़) और विद्वत् परिषदों (एकेडमिक काउन्सिल) में इन विषयों पर चर्चा होनी चाहिए, और पाठ्यक्रमों में इसके आधार पर परिवर्तन करना चाहिए। युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड इसके आधार पर सन्दर्भ पुस्तकें तैयार कर सकते हैं। ऐसा होगा तभी आनेवाली पीढ़ी को यह जानकारी प्राप्त होगी। यह केवल जानकारी का विषय नहीं है, यह परिवर्तन का आधार भी बनना चाहिए। आवश्यकता पडने पर इसके लिए व्यापक चर्चा जहां सम्भव है ऐसी गोष्ठियों एवं चर्चा सत्रों का आोयजन करना चाहिए।

इसके आधार पर रूपान्तरण कर के जनसामान्य तक ये बातें पहुँचानी चाहिए। कथाएँ, नाटक, चित्र, प्रदर्शनी तैयार कर उस सामग्री का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। इससे जनसामान्य के मन में स्थित सुषुप्त भावनाओं और अनुभूतियों का यथार्थ प्रतिभाव प्राप्त होगा।

माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालय में पढ़ने वाले किशोर और बाल छात्रों के लिए उपयोगी वाचनसामग्री इसके आधर पर तैयार की जा सकती है।

ऐसा एक प्रबल बौद्धिक जनमत तैयार करने की आवश्यकता है जो इसके आधार पर संस्थाएँ निर्माण करे, चलाये, व्यवस्था का निर्माण करे। या तो सरकार के या सार्वजनिक स्तर पर व्यवस्था बदलने की, और नहीं तो सभी व्यवस्थाओं को अपने नियंत्रण से मुक्त कर जनसामान्यके अधीन करने की अनिवार्यता निर्माण करे। सच्चा लोकतंत्र तो यही होगा।

बन्धन और जकड़न से जन सामान्य की बुद्धि को मुक्त करनेवाली, लोगों के मानस, कौशल, उत्साह और मौलिकता को मार्ग देने वाली, उनमें आत्मविश्वास का निर्माण करनेवाली और उनके आधार पर देश को फिर से उठाया और खड़ा किया जा सके इस हेतु उसका स्वत्व और सामर्थ्य जगानेवाली व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है।

इन पुस्तकों के प्रकाशन का यह प्रयोजन है।

५.

श्री धर्मपालजी गांधीयुग में जन्मे, पले। गांधीयुग के आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया, रचनात्मक कार्यक्रमों में भाग लिया, मीराबहन के साथ बापूग्राम के निर्माण में वे सहभागी बने।

महात्मा गांधी के देशव्यापी ही नहीं, तो विश्वव्यापी प्रभाव के बाद भी गांधीजी के अतिनिकट के, अतिविश्वसनीय, गांधीभक्त कहे जाने वाले लोग भी उन्हें नहीं समझ सके, कुछ ने तो उन्हें समझने का प्रयास भी नहीं किया, कुछ ने उन्हें समझा फिर भी उन्हें दरकिनार कर सत्ता का स्वीकार कर भारत को यूरोप के तंत्रानुरूप ही चलाया। उन नेताओं के जैसे ही विचार के लगभग दो चार लाख लोग १९४७ में भारत में थे (आज उनकी संख्या शायद पाँच दस करोड़ हो गई है)। यह स्थिति देखकर उनके मन में जो मंथन जागा उसने उन्हें इस अध्ययन के लिये प्रेरित किया। लन्दन के और भारत के अभिलेखागारों में से उन्होंने असंख्य दस्तावेज एकत्रित किए, पढ़े, उनका अध्ययन किया, विश्लेषण किया और १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के भारत का यथार्थ चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। जीवन के पचास साठ वर्ष वे इस साधना में रत रहे।

ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में हैं। उनका व्यापक अध्ययन होने के लिए ये भारतीय भाषाओं में हों यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कुछ लेख हिन्दी में हैं और 'जनसत्ता' आदि दैनिक में और 'मंथन' आदि सामयिकों में प्रकाशित हुए हैं । मराठी, तेलुगु, कन्नड आदि भाषाओं में कुछ अनुवाद भी हुआ है परन्तु संपूर्ण और समग्र प्रयास तो गुजराती में ही प्रथम हुआ है। और अब हिन्दी में हो रहा है।

इस व्यापक शैक्षिक प्रयास का यह अनुवाद एक प्रथम चरण है।

६.

इस ग्रन्थ श्रेणी में विविध विषय हैं। इसमें विज्ञान और तंत्रज्ञान है; शासन और प्रशासन है; लोकव्यवहार और राज्य व्यवहार है; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, अर्थशास्त्र नागरिक शास्त्र भी है। इसमें भारत, इंग्लैंड और अमेरिका है। परन्तु सभी का केन्द्रबिन्दु हैं गांधीजी, कोंग्रेस, सर्वसामान्य प्रजा और ब्रिटिश शासन।

और उनके भी केन्द्र में है भारत।

अत: एक ही विषय विभिन्न रूपों में, विभिन्न संदर्भो के साथ चर्चा में आता रहता है। और फिर विभिन्न समय में, विभिन्न स्थान पर, भिन्न भिन्न प्रकार के श्रोताओं के सम्मुख और विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओं के लिये भाषण और लेख भी यहां समाविष्ट हैं। अत: एक साथ पढ़ने पर उसमें पुनरावृत्ति दिखाई देती है-विचारोंकी, घटनाओं की, दृष्टान्तों की। सम्पादन करते समय पुनरावृत्ति को यथासम्भव कम करने का प्रयास किया है। इसीके परिणाम स्वरुप गुजराती प्रकाशन में ११ पुस्तकें थीं और हिन्दी में १० हुई हैं। परंतु विपय प्रतिपादन की आवश्यकता देखते हुए पुनरावृत्ति कम करना हमेशा संभव नहीं हुआ है।

फिर, सर्वथा पुनरावृत्ति दूर कर उसे नये ढंग से पुनर्व्यवस्थित करना तो वेदव्यास

का कार्य हुआ। हमारे जैसे अल्प क्षमतावान लोगों के लिये यह अधिकारक्षेत्र के बाहर का कार्य है।

अत: सुधी पाठकों के नीरक्षीर विवेक पर भरोसा करके सामग्री यथातथ स्वरूप में ही प्रस्तुत की है।

यहां दो प्रकार की सामग्री है। एक है प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित यूरोप के अधिकारियों और बौद्धिकोंने प्रत्यक्षदर्शी प्रमाणों एवं स्वानुभव के आधार पर, विभिन्न प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रस्तुत की हुई भारत विषयक जानकारी, और दूसरी है धर्मपालजीने इस सामग्री का किया हुआ विश्लेषण, उससे प्राप्त निष्कर्ष और उससे प्रकाशित ब्रिटिशरों के कार्यकलापों का, कारनामों का अन्तरंग।

इसमें प्रयुक्त भाषा दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेजी भाषा है, सरकारी तंत्र की है, गैर साहित्यिक अफसरों की है, उन्होंने भारत को जैसा जाना और समझा वैसा उसका निरूपण करनेवाली है। और धर्मपालजी की स्वयं की भाषा भी उससे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है।

फलत: पढ़ते समय कहीं कहीं अनावश्यक रूप से लम्बी खींचनेवाली शैली का अनुभव आता है तो आश्चर्य नहीं।

और एक बात।

अंग्रेजो ने भारत के विषय में जो लिखा वह हमारे मन मस्तिष्क पर इस प्रकार छा गया है कि उससे अलग अथवा उससे विपरीत कुछ भी लिखे जाने पर कोई उसे मानेगा ही नहीं यह भी सम्भव है। इसलिए यहाँ छोटी से छोटी बात का भी पूरा पूरा प्रमाण देने का प्रयास किया गया है। साथ ही इतिहास लेखन का तो यह सूत्र ही है कि नामूलं लिख्यते किञ्चित् - बिना प्रमाण तो कुछ भी लिखा ही नहीं जाता। परिणामतः यहाँ शैली आज की भाषा में कहा जाए तो सरकारी छापवाली और पांडित्यपूर्ण है, शोध करनेवाले अध्येता की है।

प्रमाणों के विषयमें तो आज भी स्थिति यह है कि इसमें ब्रिटिशरों के स्वयं के द्वारा दिये गये प्रमाण हैं इसलिये पाठकों को मानना ही पडेगा इस विषय में हम आश्वस्त रह सकते हैं। (आज भी उसका तो इलाज करना जरूरी है।)

साथ ही, पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो भारत के विषय में भावात्मक, या भक्तिभाव पूर्ण बातें पढ़ने का आदी है, अथवा वैश्विक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया, अर्थात् अमेरिका के दृष्टिकोण से लिखा गया विचार पढ़ने का आदी है। इस परिप्रेक्ष्य में विषय सम्बन्धी पारदर्शी, ठोस, तर्कनिष्ठ प्रस्तुति हमें इस ग्रंथवाली में प्राप्त है। अनेक विषयों

में अनेक प्रकार से हमें बुद्धिनिष्ठ होने की आवश्यकता है इसकी प्रतीति भी हमें इसमें होती है।

७.

अनुवादकों तथा जिन जिन लोगों ने ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में पढ़ी हैं अथवा अनुवाद के विषय में जाना है उन सभी का सामान्य प्रतिभाव है कि इस काम में बहुत विलम्ब हुआ है। यह बहुत पहले होना चाहिये था। अर्थात् सभी को यह कार्य अतिमहत्त्वपूर्ण लगा है। सभी पाठकों को भी ऐसा ही लगेगा ऐसा विश्वास है।

अनुवाद का यह कार्य चुनौतीपूर्ण है। एक तो दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेज अधिकारियों की भाषा, फिर भारतीय परिवेश और परिप्रेक्ष्य को अंग्रेजीं में उतारने और अपने तरीके से कहने के आयास को व्यक्त करने वाली भाषा और उसके ही रंग में रंगी श्री धर्मपालजी की भी कुछ जटिल शैली पाठक और अनुवादक दोनों की परीक्षा लेनेवाली है।

साथ ही यह भी सच है कि यह उपन्यास नहीं है, गम्भीर वाचन है।

संक्षेप में कहा जाय तो यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी का दो सौ वर्ष का भारत का केवल राजकीय नहीं अपितु सांस्कृतिक इतिहास है।

८.

इस ग्रंथावलि के गुजराती अनुवाद कार्य के श्री धर्मपालजी साक्षी रहे। उसका हिन्दी अनुवाद चल रहा था तब वे समय समय पर पृच्छा करते रहे। परन्तु अचानक ही दि. २४ अक्टूबर २००६ को उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व तो उनके साथ बात हुई थी। आज हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के अवसर पर वे अपने बीच में विद्यमान नहीं हैं। उनकी स्मृति को अभिवादन करके ही यह कार्य सम्पन्न हो रहा है।

९.

इस ग्रंथावलि के प्रकाशन में अनेकानेक व्यक्तियों का सहयोग एवं प्रेरणा रहे हैं। उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा सुखद कर्तव्य है।

अनेकानेक कार्यकर्ता एवं विशेष रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहसरकार्यवाह माननीय सुरेशजी सोनी की प्रेरणा, मार्गदर्शन, आग्रह एवं सहयोग के कारण से ही इस ग्रंथावलि का प्रकाशन सम्भव हुआ है। अत: प्रथमत: हम उनके आभारी हैं।

सभी अनुवादकों ने अपने अपने कार्यक्षेत्र में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी समय सीमा में अनुवाद कार्य पूर्ण किया तभी समय से प्रकाशन सम्भव हो पाया। उनके परिश्रम के लिये हम उनके आभारी हैं।

यह ग्रंथावलि गुजरात में प्रकाशित हो रही है। इसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी भाषी लोगों पर भी गुजराती का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इसका परिष्कार करने के लिये हमें हिन्दीभाषी क्षेत्र के व्यक्तियों की आवश्यकता थी। जोधपुर के श्री भूपालजी और इन्दौर के श्री अरविंद जावडेकरजी ने इन पुस्तकों को साद्यन्त पढ़कर परिष्कार किया इसलिये हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अच्छे मुद्रण के लिये साधना मुद्रणालय ट्रस्ट के श्री भरतभाई पटेल और श्री धर्मेश पटेल ने भी जो परिश्रम किया है इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

'पुनरुत्थान' के सभी कार्यकर्ता तो तनमन से इसमें लगे ही हैं। इन सभी के सहयोग से ही इस ग्रन्थावलि का प्रकाशन हो रहा है।

१०.

सुधी पाठक देश की वर्तमान समस्याओं के निराकरण की दिशा में विचार विमर्श करते समय, नई पीढ़ी को इस देश के इतिहास में अंग्रेजों की भूमिका का सही आकलन करना सिखाते समय इस ग्रंथावलि की सामग्री का उपयोग कर सकेंगे तो हमारा यह प्रयास सार्थक होगा।

साथ ही निवेदन है कि इस ग्रंथावलि में अनुवाद या मुद्रण के दोषों की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करें। हम उनके बहुत आभारी होंगे।

इति शुभम् ।

सम्पादक

वसन्त पंचमी
युगाब्द ५१०८
२३, जनवरी २००७

१. गांधीयुग का बालक

मेरा जन्म १९२२ में हुआ। मेरे जीवन के प्रथम पचीस वर्ष मैंने महात्मा गांधी के शासन में बिताये। इसलिये मैं अपने आप को गांधीयुग का बालक मानता हूं। उस समय भारत में अंग्रेज अवश्य थे। परन्तु हमारे लिये वे लुटेरे और अत्याचारी थे। मैंने सर्वप्रथम महात्मा गांधी को १९२९ में लाहौर के भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के अधिवेशन में देखा। मैं वहां मेरे पिताजी के साथ गया था। महात्मा गांधी के आह्वान पर भारत के हजारों युवकों की तरह मेरे पिताजीने भी अपना महाविद्यालयीन अध्ययन छोड दिया था। मेरे लिये और मेरी ही आयु के अनेकों के लिये (मेरी आयु उस समय केवल ८ वर्ष की थी) वह समय बहुत उत्तेजना से भरा हुआ था। १९३० के दशक में मैंने पुनः गांधीजी को देखा होगा। परन्तु मुझे उसकी स्पष्ट स्मृति नहीं है।

मेरी बालवय की स्मृति की सर्वाधिक भव्य एवं उदात्त घटना थी १९३१ में ब्रिटिश सरकार द्वारा सरदार भगतसिंह को दी गई फांसी। इस घटना ने हमारे मन को आक्रोश से भर दिया था।

उस समय ऐसे अनेक अभिजन थे जिनको लगता था कि ब्रिटिशरों के बिना हमारा देश नहीं चलेगा, और किसी भी कारण से यदि ब्रिटिशर यहां नहीं रहेंगे तो दूसरे विदेशी हमारे उपर कब्जा कर लेंगे। अतः हमें उनके प्रति निष्ठावान रहना चाहिये, उनके आज्ञाकारी बनना चाहिये। ऐसा माननेवालों में धार्मिक प्रवृत्तिवाले सज्जनों का भी समावेश होता था।

फिर भी, हमारे जैसे अधिकांश लोगों के लिये, चाहे उन्हें देखा हो या नहीं, गांधीजी अवतार पुरुष थे जो हमें विदेशी शासन के अत्याचारों से मुक्त कर अपनी पद्धति से जीने की स्वतंत्रता प्रदान करने के लिये आये थे।

गांधीजी को पूरे दो दिन तक (दूर से ही क्यों न हो) देखने की और सवा दो घण्टे उनका भाषण सुनने की स्पष्ट स्मृति ८ अगस्त १९४२ के सायंकाल की है। उस दिन भारत के और विश्व के विभिन्न देशों के लोग उनको सुनने की प्रतीक्षा कर रहे थे। मुम्बई के गोवालिया टैंक मैदान में हजारों लोग उन्हें ध्यानपूर्वक सुन रहे

थे। अखिल भारतीय काँग्रेस समिति का वह 'भारत छोडो' अधिवेशन था। 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' में उस भाषण की रूपरेखा दी गई है।[१] परन्तु उसे अक्षरशः प्रकाशित करने की आवश्यकता है। उस अधिवेशन की यदि फिल्म उपलब्ध होती है तो उसका सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहिये। इससे न केवल उनके शब्द और विचार, अपितु विशाल श्रोतागण के भाव, प्रतिभाव और जोश भी पुनरुज्जीवित होंगे।

१९४६ के बाद मैंने गांधीजी को अनेक बार देखा। अन्य लोगों के साथ ही मैं भी उनके समीप बैठा और एक बार तो सुश्री मीराबहनने मेरा परिचय करवाने के बाद प्रत्यक्ष रूप से मेरे साथ वे कुछ बोले भी।

अतः गांधीजी के साथ मेरी निकटता उनके समय में जीने के, वे जो बोलते एवं करते थे उससे मेरे मन में व्याप्त विचारों, भावनाओं और मान्यताओं के अभिभूत होने के, और ८ अगस्त १९४२ सायंकाल के एतिहासिक भाषण सुनने का भाग्य प्राप्त होने के परिणाम स्वरूप थी। 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' के सौ खण्डों में संकलित उनके भाषण और लेखन को और ९० वर्षों से अन्य कई लोग उनके विषय में जो लिख रहे हैं उसे पढ़ने से मेरी यह निकटता निरन्तर बनी रही है। गांधीजी के विषय में अन्यों के द्वारा लेखन का प्रारम्भ १९०९ में हुआ था। १९०९ में जोसेफ डोक़ने 'गांधी, एन इण्डियन पेट्रिअट इन साउथ आफ्रिका'[२] (Gandhi, An Indian Patriot in South Africa) नामक पुस्तक लिखी थी।

सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक विचारों में मेरी रुचि यौवनसुलभ उत्साह का परिणाम तो थी ही, साथ में गांधीजी के विचार और आह्वान भी मेरे लिए और मेरे जैसे अनेकों के लिए प्रेरक शक्ति थी। इसी से प्रेरित होकर मैंने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लिया। आगे १९४४ में हरिद्वार और रूडकी के बीच सुश्री मीराबहन द्वारा नये से स्थापित किसान आश्रम से मैं जुडा। बाद के वर्षों में इसी प्रकार के अन्य कामों में मैं लगा रहा। भारतीय समाज के सर्वांगीण पुनरुत्थान के कार्य में ही सहभागी होने की कुछ कल्पना से प्रेरित होकर मैं यह सब करता रहा।

परन्तु वर्ष बीतते गये और मैं इस दिशा में किये जानेवाले प्रयासों के विषय में निर्भ्रान्त होता गया। १९६० आते आते तो यह निर्भ्रान्ति निश्चित हो गई। निर्भ्रान्त होनेवालों में और लोग भी थे। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जिनके लिये हमारे मनमें बहुत चिन्ता होने का हम दावा करते हैं उनके विषय में वास्तव में हम बहुत कम जानते हैं। वह केवल एक संयोग ही था कि मैं साठ के दशक में हमारे सामान्य ग्रामजनों और उनके विचार एवं व्यवहार के तौर तरीकों के निकट सम्पर्क

में आया। गांधीजी और जीवन की मेरी समझ और उससे उद्‌भूत मेरी अदम्य शोधवृत्ति भी इसका कारण हो सकती थी। ऐसा ही दूसरा एक संयोग था कि मैं सन् १८०० के आसपास के भारत के लोग और संस्थाओं के बारे में ब्रिटिश और अन्य यूरोपीयों ने लिखे १८वीं और १९वीं शताब्दी के वृत्तान्तों के सम्पर्क में आया।

यह सब लगभग पैंतालीस वर्ष पूर्व हुआ। दो सौ वर्ष पूर्व के भारतीय जन और भारतीय समाज से सम्बन्धित अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के लिखित वृत्तान्तों का जितना अधिक अध्ययन मैं करता गया, गांधीजीने जो कहा और लिखा उसके भी मैं अधिक निकट आता गया। मुझे हमेशा लगता रहा है कि इन दोनों में सीधा सम्बन्ध है।

जब मैं ब्रिटिश अभिलेखागारों की सामग्री को पढने लगा तब १८१०-१८११ के वाराणसी, बिहार और बंगाल के अन्य नगरों में आवास कर के प्रतिरोध में उठे और दीर्घकाल तक चले व्यापक जन आन्दोलन के विषय में ब्रिटिशरों का जो पत्रव्यवहार हुआ था वह देखने को मिला। इसे पढ़ने पर मुझे ऐसी दृढ प्रतीति हो रही थी कि मैं जैसे दो सौ पचास वर्ष पूर्व घटी घटना के विषय में नहीं अपितु अपने ही समय में महात्मा गांधी के नेतृत्व में चल रहे नागरिक अवज्ञा आन्दोलन के विषय में पढ रहा हूं। इसे पढने के बाद मैं महात्मा गांधी द्वारा लिखित सामग्री को फिर से एक बार पढ़ने के लिये उद्युक्त हुआ। 'हिन्द स्वराज' में मुझे पूर्व में अक्रिय प्रतिरोध की घटनाओं के उल्लेख मिले। १९०८ में लिखी गई इस पुस्तक में अक्रिय प्रतिरोध को व्याख्यायित करते हुए गांधीजी कहते हैं,

'मुझे याद है कि एक रियासतमें रैयतको कोई हुक्म पसन्द नहीं आया। इसलिए रैयतने गाँव खाली करना शुरू कर दिया। राजा घबराया और उसने रैयतसे क्षमा माँगी और हुक्म वापस ले लिया। ऐसे बहुत से दृष्टान्त मिल सकते हैं, किन्तु ज्यादातर वे भारत की ही उपज निकलेंगे। जहाँ ऐसी प्रजा है, वहाँ स्वराज्य है। इसके बिना स्वराज्य कुराज्य है।'[३]

इस अनुच्छेद ने मैंने जो अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी की सामग्री देखी थी उसकी पुष्टि की। अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विषय में गांधीजी ने इसी प्रकार से निरूपण किया था। वास्तविक रूप में १९३१ में भारत में ब्रिटिश शासन में साक्षरता के हो रहे ह्रास के विषय में गांधीजी ने जो टिप्पणी की थी उसी को लेकर उस समय में प्रवर्तमान भारतीय शिक्षा विषयक सामग्री का अध्ययन करने के लिये मैं प्रेरित हुआ था।[४]

ब्रिटिश सरकार ने भारत में संविधान सुधार विषयक परिषद का आयोजन १९३१ में किया था। उसमें सहभागी होने के लिये गांधीजी इंग्लैंड गये थे। उसी समय उन्होंने ब्रिटिश राज के दौरान भारत की किस प्रकार सर्वतोमुखी अवनति हुई है उसका वर्णन किया। उसी समय उन्होंने कहा कि ब्रिटिशरों के भारत में आने से पूर्व भारत अधिक शिक्षित था। ब्रिटिश शासनमें शिक्षा का ह्रास हुआ है। इसे पढकर मैं नये सिरे से शोध करने लगा। सन् १८०० के आसपास भारत में शिक्षा और साक्षरता की स्थिति विषयक सामग्री संकलित करना मैंने प्रारम्भ किया। यह विशेष रूप से मैं १९६६ के बाद कर रहा था।-१९८० तक तो मुझे गांधीजी के कथन की पुष्टि करनेवाली बहुत सामग्री मिली। अगले वर्ष मैं महात्मा गांधी के सेवाग्राम आश्रम में रहा। वहाँ मैंने अठारहवीं शताब्दी की भारतीय शिक्षा विषयक प्राप्त सामग्री को एक पुस्तक के रूपमें सम्पादित किया और क्यों कि गांधीजीने भारतीय शिक्षा के लिये 'रमणीय वृक्ष' (The Beautiful Tree) कहा था, मैंने भी इस नई पुस्तक का शीर्षक वही दिया।[५]

मैं चार मास तक सेवाग्राम में रहा। वहां मुझे १९४० से पूर्व की गांधी सेवा संघ की गतिविधियों से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त हुई।[६] तब तक मुझे संघ के विषय में बहुत ही प्राथमिक स्वरूप की जानकारी थी। मैंने ये कागजपत्र नहीं देखे थे तब तक मुझे कोई जानकारी नहीं थी कि गांधीजी के विचार और उनके द्वारा संकल्पित संस्थाओं के विस्तार, विकास व प्रचार का कार्य संघ १९२३ से कर रहा था। १९३४ से १९४० के कालखण्ड में एक सप्ताह तक चलनेवाली उसकी परिषदें होती थीं और उसके कारण सार्वजनिक रूप से गम्भीर प्रकार के विवाद भी उठते थे। मुझे यह भी जानकारी मिली कि इन परिषदों के साथ ही भारतीय उद्योगों एवं कारीगरी के नमूनों का प्रदर्शन और निदर्शन भी वहां होता था। १९३६ और १९३९ में तो भारत में व्यापक रूप से (तब अज्ञात परन्तु अब सर्वज्ञात) प्रचलित पद्धति से लोहा और इस्पात बनाने का निदर्शन भी हुआ था।[७]

१९४० में गांधीजीने संघ की गतिविधियों को स्थगित करने का निर्णय किया क्यों कि उसकी प्रभावी उपस्थिति से कॉंग्रेस को अपना विभाजन होने का भय लगा। जवाहरलाल नहेरू और सुभाषचन्द्र बसु जैसे आधुनिकतावादी तो उसे निरस्त करना ही चाहते थे। परन्तु गांधीजी ने उसे निरस्त नहीं किया। उन्होंने चाहा कि संघ भविष्य में एक अनुसन्धान केन्द्र बनकर उनके साथ जुडी हुई संस्थाओं एवं उनके विचारों पर काम करेगा।[८]

गांधी सेवा संघ की जो सामग्री मेरे हाथ लगी थी उसी ने मुझे इन संस्थाओं के बारे में और सामग्री ढूंढने के लिये प्रेरित किया। मैंने उस समय के समाचार पत्रों के वृत्तान्तों तक का अध्ययन किया। अन्त में, फरवरी १९८२ में मैंने एक छोटा आलेख तैयार किया जिसका शीर्षक था 'हिन्द स्वराज का पुनर्गठन : १९३२-४० में महात्मा गांधी की सक्रियता।' मैंने इकट्ठी की हुई सामग्री का ही जैसे मेरे उपर दबाव बन गया कि मैं उसे लोगों के समक्ष प्रस्तुत करूं। मुझे लगता था कि इस सामग्री का सार्वजनिक रूप से अत्यन्त महत्त्व है। इस आलेख का हिन्दी अनुवाद कुछ ही समय में 'दिनमान' नामक हिन्दी साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ।[१] इस पुस्तक में भी उस आलेख का समावेश हुआ है।

'हिन्द स्वराज का पुनर्गठन' पुस्तक पूर्ण करने के बाद सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय के मेरे अध्ययन के आधार पर १९८२ से आगे मैंने महात्मा गांधी के जीवन और कार्य के विषय में कुछेक लेख लिखे। इनमें इस प्रकार के लेखों का समावेश है : (१) 'गांधीयुग की पुनः समीक्षा : एक दृष्टिकोण' (जुलाई से सितम्बर १९८२); (२) 'महात्मा गांधी की दृष्टि से टैक्नोलोजी एवं समाज' (आईआईटी, कानपुर, दिसम्बर १९८२); (३) 'गांधीजी पर पुनर्विचार : १९१५ से १९४८' (सितम्बर १९८४); (४) 'महात्मा गांधी विषयक कुछ विचार' (चर्चा के लिये कुछ बिन्दु, अक्टूबर-नवम्बर १९८५); (५) 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय : एक टिप्पणी' (अक्टूबर १९८६, इसका कुछ अंश 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव् इण्डिया' में प्रकाशित हुआ था); (६) 'सेवाग्राम : संभाव्य नई शुरुआत (जितेन्द्र बजाज के साथ वार्तालाप, २-१०-१९८६ को 'जनसत्ता' में मूल हिन्दी में 'सेवाग्राम से फिर नई शुरुआत हो' शीर्षक से प्रकाशित); और (७) 'साहस और आत्मसम्मान, स्वयंप्रेरित समृद्धि और अलिप्तता : महात्मा गांधी पर एक मनन' (पवनार, फरवरी १९९६)।

इस पुस्तक के अध्याय इन लेखों का ही सम्पादित संस्करण है। एक ही विषय के अलग अलग लेखों में बिखरे अंशों को एक स्थान पर करने के लिये और घटना तथा उद्धरणों का पुनरावर्तन दूर करने के लिये यह सम्पादन करना आवश्यक था। मुझे लगता है कि इससे गांधीजी के जीवन तथा कार्य के एक आयाम से दूसरे आयाम तक जाना पाठकों के लिये सरल और सुगम बनेगा।

२.

'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' का प्रकाशन इस आधुनिक भारत की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। गांधीजी के लेखन का यह संग्रह ५०,००० पृष्ठ और एक सौ खण्डों

का हुआ है। यह महासंग्रह महात्मा गांधी ने जो कहा और लिखा उस का विशाल फलक प्रस्तुत करता है। अपनी आयु के १८ वें वर्ष से लेकर जीवन के अन्त तक निजी एवं सार्वजनिक तौर पर लिखे अथवा लिखवाये लगभग ३०,००० पत्रों का समावेश इसमें होता है।

गांधीजी खूब लिखते थे। थकते भी नहीं थे। उदाहरण के लिये १९०६ से १९४८ तक उन्होंने लगभग निरन्तर रूप से एक या एक से अधिक साप्ताहिक पत्र चलाये।[१०] अतः गांधीजीने स्वयं प्रकाशित की हुई सामग्री भी प्रचुर मात्रा में है। सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय के सौ खण्डों में प्रथम तीन तो विषय सूची, नामों की सूची और शेष सत्तानवे खण्डों की प्रस्तावना के रूप में हैं। ये सौ खण्ड एक साथ हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। (गांधीजी ने इन तीनों भाषाओं में लेखन किया है।) सम्भवतः भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद होगा।

'सम्पूर्ण वाङ्मय' को प्रकाशित करने का निर्णय १९५० के दशक के प्रारम्भ में लिया गया था। परन्तु इस अद्वितीय साहस का वास्तविक कार्य लगभग १९६० से प्रारम्भ हुआ। प्रा. स्वामीनाथन और उनके अनेक सहयोगियों ने जिस लगन से यह महान कार्य किया है उसके लिये भारतवर्ष उनका सदैव ऋणी रहेगा। साथ ही हजारों संस्थाओं एवं व्यक्तियों ने गांधीजी के स्वहस्ताक्षर में लिखी अपनी अपनी सामग्री इस स्मरणीय अभिलेख हेतु देकर मूल्यवान सहयोग दिया है, क्यों कि बिना उनके सहयोग के यह प्रकाशन कार्य सम्भव ही नहीं हो सकता था।

परन्तु, इस वाङ्मय के प्रकाशन के लिये कितना भी आग्रह एवं सूक्ष्मतापूर्ण परिश्रम किया गया हो, गांधीजी द्वारा बोला एवं लिखा गया एक एक शब्द इन सौ खण्डों में भी आना असम्भव है। उनके लेखन के एवं सार्वजनिक भाषणों के कितने ही रिकार्ड अब काल के प्रवाह में लुप्त हो गये होंगे। कितने ही लोगों के पास अत्र तत्र अभी बहुत सी सामग्री होगी जो सम्पादकों एवं प्रकाशकों तक नहीं पहुंच पाई।

मेरा तो दृढ अभिमत है कि गांधीजी द्वारा लिखी गयी बहुत सारी सामग्री सम्पूर्ण वाङ्मय के सम्पादकों तक नहीं पहुंची है। इसका मुख्य कारण तो सम्भवतः यही है कि सम्पूर्ण वाङ्मय संगठन बीस वर्षों के कठोर परिश्रम के बाद इतना थक गया था कि सामग्री प्राप्त करने के लिये पुनः प्रयास करना उनके लिये कठिन हो गया था। अर्थात् संकलन के प्रथम दौर के बाद पुनः एक वार संस्थाओं और व्यक्तियों को उनके पास जो भी सामग्री है वह इस संग्रह के लिये देने हेतु निवेदन करना उनके लिये कठिन हो गया था। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि अनेक व्यक्तियों

को एवं संस्थाओं को अपने पास जो सामग्री है उसे इस सम्पूर्ण वाङ्मय में समाविष्ट करने हेतु देने का क्या महत्त्व है वह पूर्ण रूप से समझमें ही नहीं आया है।

परन्तु जो भी सामग्री अभी बची है उसे सम्पूर्ण वाङ्मय में समाविष्ट करने के लिये नये सिरे से प्रयास करना आवश्यक है।

इस प्रकार की टिप्पणी के बाद भी यह कहना प्राप्त है कि गांधीजी के लेखन का संग्रह करने का यह कार्य इस प्रकार के अन्य महान कार्यों के इतिहासमें भी अद्वितीय है। वॉल्टेयर और अमेरिकन लेखक इमर्सन के लेखन के संग्रह के साथ तुलना करने पर यह बात तुरन्त समझ में आती है। १८९० से लेकर १९४८ तक के कालखण्ड में भारतीय समाज और भारतीय जन की, सम्पूर्ण देश किस प्रकार से रूपान्तरित होता चला गया इसकी कथा बताने के लिये इससे बेहतर अभिलेख कदाचित कहीं नहीं मिलेंगे।

उदाहरण के लिये आज भी हम दलितों एवं अन्य अनुसूचित जातियों के साथ अपने व्यवहार को लेकर चिन्तित हैं। परन्तु १९४० में उनकी क्या स्थिति थी इसकी जानकारी जब मिलती है तब लगता है कि आज उनकी स्थिति पूर्व की अपेक्षा बेहतर है।

बालिकाओं एवं महिलाओं के विषय में भी यही कहना प्राप्त है। यद्यपि १८९० से लेकर आज तक कुछ बातों में उनकी स्थिति बिगड रही है। पश्चिम के विज्ञान ने गर्भपरीक्षण करना सुलभ बना दिया है उसके परिणाम स्वरूप बालिका भ्रूणहत्या की मात्रा बढ गई है। (भारत की जनसंख्या के आंकडे दर्शाते हैं कि १९०१ में देशमें १००० पुरुषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या ९८० थी, परन्तु १९९१ में वह अनुपात १००० पुरुष और ९२० महिला का हो गया था।)

अब जब कि 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' का प्रकाशन हो गया है तब उसका क्या उपयोग करना यह हमारे समक्ष प्रमुख प्रश्न है। अभी हाल ही में सेवाग्राम में आयोजित एक बैठक में महाराष्ट्र सरकार के एक अधिकारीने कहा कि ग्रन्थालयों को निःशुल्क देने पर भी कोई इन ग्रन्थों को पढ़ने की रुचि नहीं रखता है। कदाचित् इस अधिकारी को ठीक जानकारी नहीं होगी। सम्भवतः महाराष्ट्रमें स्थिति ऐसी ही होगी। कदाचित् देश के अन्य भागों में भी अधिकारियों की धारणा इसी प्रकार की होगी।

तो फिर यह सम्पूर्ण वाङ्मय इंट और चूने की अन्य समाधियों की तरह कागज और अक्षरों की बनी और एक समाधि ही है ? अब तक हम इस विषय में जिस प्रकार से पेश आ रहे हैं उसे देखकर तो ऐसा ही लगता है। गांधीजी की चप्पल,

घडी आदि वस्तुओं की तरह इन ग्रन्थों को भी इस संग्रहालय में रखने लायक मानकर उसे ताला लगाकर सुरक्षित कर देना चाहते हैं। अर्थात् चौराहों पर खडी गांधीजी की प्रतिमाओं जैसे स्मारकों का मूल्य कम आंकने की यह बात नहीं है। हो सकता है कि आगे चलकर भारतमाता का एक भव्य मन्दिर बनाया जाए, वह उसके इस महान सपूत की स्मृतिमें ही बने। वह तंजावुर या चिदम्बरम् के भव्य मन्दिरों जैसी शैलीमें और भारतीय कारीगरी और स्थानीय सामग्री का ही उपयोग करके बने। अपने आप में इस प्रकार के स्मारकों का बहुत बडा मूल्य है, विशेष रूपसे तब जब वे महान विचार, काल के प्रवाह के महान क्षण अथवा महामानव की स्मृति हों।

परन्तु सम्पूर्ण वाङ्मय के प्रकाशन से गांधीजी के जीवन एवं मनुष्य की स्थिति विषयक अभिगम को एक अधिक गहरा, सनातन एवं शाश्वत अर्थ प्राप्त होता है। अब गांधीजी की पहचान केवल 'सत्याग्रह' के प्रणेता अथवा एक महानायक के रूपमें ही नहीं रह गई है। अथवा एक ऋषि अथवा विगत दो हजार वर्षों में जन्मे भारत के महानतम सपूत अथवा राष्ट्रपिता अथवा एक अद्वितीय व्यक्तित्व-इसी प्रकार की उनकी पहचान नहीं रहेगी। गांधीजी यह सब होंगे, परन्तु वर्तमान समय के या मानव इतिहास के सन्दर्भमें उनका सही स्थान प्लेटो, गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, कन्फ्युशियस और महान सन्त लाओ त्से के साथ होगा। यूरोप ने मध्यकालीन चर्च के फादर, मार्टीन ल्यूथर, फ्रान्सिस बेकन और लिबनिट्झ, या आधुनिक समयमें हेगेल और कार्ल मार्क्स का जितना गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है उतनी गम्भीरता से महात्मा गांधी का अध्ययन करना चाहिये।

दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि गांधीजी जब जीवित थे तब उनके निकट रहनेवाले लोगों ने उनके विचार एवं अभिगम का सत्व जानने समझने का प्रयास नहीं किया। उनमें कुछ लोग तो सचमुच विद्वान और बौद्धिक विश्लेषण करने की क्षमता रखते थे। यदि ऐसा होता तो आज से तीस या चालीस वर्ष पूर्व ही गांधीजी के विचारों की गम्भीर एवं प्रामाणिक चर्चा प्रारम्भ हो जाती। कदाचित् वे भीरू थे, कदाचित् उनका आभिजात्य ही उनकी दुर्बलता थी। कदाचित् गांधीजी के विचारों के प्रति ही उनकी कुछ अश्रद्धा थी, कदाचित् बाहरी आक्रमणों से गांधीजी की रक्षा करने की अनावश्यक प्रवृत्ति थी, या सब कुछ एक साथ था। परन्तु कुल मिलाकर परिणाम यह था कि उन्होंने किया हुआ गांधीजी का विश्लेषण अत्यन्त निःसत्त्व था। जिस महान व्यक्ति के लिये उन्होंने जीवन समर्पित किया था, जीवनभर उसीका दुर्वल बचाव करते रहना ही उनका भाग्य था।

इसका एक उदाहरण गांधीजी के ब्रह्मचर्य प्रयोग के विषय में है। यह प्रयोग १९०६ के आसपास शुरू हुआ जब उन्होंने ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की। १९३६ से १९४७ के दौरान इसमें वृद्धि होती रही। परन्तु विद्वानों एवं सामान्य जनों में इस प्रयोग को लेकर बडी गलतफहमी थी। उसकी प्रस्तुति भी अनुचित पद्धति से होती रही। इस गलतफहमी और अनुचित प्रस्तुति के लिये उनके अन्तेवासी ही उत्तरदायी हैं। इस विषयमें उनके मनमें हमेशा उलझन रही, और वे निरन्तर इसका बचाव करते रहे। वे अपने आप को गांधीजी की प्रतिष्ठा के रक्षक मानते थे। जून १९३८ में गांधीजीने इस प्रयोग के विषय में एक लेख लिखा था। परन्तु उनकी प्रतिष्ठा की चिन्ता करनेवाले लोगों ने उनके प्रति प्रेम और आदर से प्रेरित हो कर उस लेख को प्रकाशित नहीं होने दिया। यदि उसे प्रकाशित होने दिया जाता तो कुछ लोगों की सहमति न होते हुए भी इस विषय में जो द्विधा और गलतफहमी थी वह दूर हो जाती। परन्तु हम उस समय संकटपूर्ण स्थिति में थे, दीर्घकाल की दासता के कारण से विचलिंत हो गये थे, हम जिसे पकडे बैठे थे वह सहारा छूट जाने का हमें भय लग रहा था इसलिये हमने अनुचित बचाव करने का काम ही किया।

गांधीजी ज़ीवित थे तब भी उनकी सूचनाओं एवं आदेशों का पालन कुछ यंत्रवत् ही होता था। उदाहरण के लिये जब उन्होंने १९४२ में 'करो या मरो' की ललकार की तब लोगोंने इस को भव्य प्रतिसाद दिया। परन्तु गांधीजी के विचारों का मर्म उनकी समझमें कुछ कम ही आया। इसलिये हमने उनकी 'दरिद्रनारायण' संज्ञाको, उनके संयमपूर्ण जीवन के आग्रह को, शोषित एवं पीडित जनों को अपने भाईबहन मानने को, समाज के भिन्न भिन्न समूहों में भावात्मक एकता की आवश्यकता को शाब्दिक अर्थ में ही समझा और उनके सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तन का केवल यही सारांश है यह माना। उनके कुछ भक्तों को निश्चित रूप से लगता था कि उनको जो सम्पत्ति प्राप्त हुई है वह गांधीजी की भक्ति का ही प्रतिफल है। चरखे पर नियमपूर्वक प्रतिदिन सात 'पूणी' सूत कातना ही उनके लिये गांधीभक्ति थी।

गांधीवादियों के आश्रमों या अन्य संस्थाओं का मूल्य कम आंकने के लिये यह नहीं कहा गया है। देश की उपलब्धियों में इन लोगों के व्यवहार का भौतिक एवं नैतिक योगदान है। परन्तु भारतीय समाज की पुनर्रचना के लिये इन लोगों का विचार एवं व्यवहार मोडेल बन सकता है यह कहना तो वर्तमान वास्तविकता को पूर्ण रूप से नकारना ही होगा।

जिस प्रकार आज बिना सोचे समझे नारेबाजी करनेवाले आधुनिक शिक्षित प्रगतिशील युवकों को उनके विद्रोह का मूल क्या है उसकी स्मृति या समझ नहीं है उसी प्रकार से गांधीवादियों को अपने विचार एवं व्यवहार का केन्द्रबिन्दु पकड में नहीं आया है। दो दशक पूर्व एक गांधीवादी तारिकअली ने एक प्रमुख ब्रिटिश समाचार पत्र में गांधीजी विषयक एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए इन शब्दों में गांधीजी का वर्णन किया, 'गांधीजी का सही महत्त्व इस बात में है कि उनमें देश के किसान समूह को आन्दोलन के लिये प्रेरित करने का परन्तु साथ ही उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को नियन्त्रित करने का सामर्थ्य था। उनकी बहुत सी विचित्रताओं का खुलासा इन्हीं एक दूसरे से विरोधी दो बातों से होता है। जैसे ही उनके चारों ओर व्याप्त धूपबत्ती के धुएँ के बादल छंट जाते हैं हम उन्हें स्पष्ट रूप से देख सकते हैं - विक्टोरियन उदारमतवाद और भारतीय गूढवाद की वर्णसंकर पैदाईश।'

गांधीजी के लिये इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग भारत में और भारत के बाहर अक्षम्य बकवास ही माना जाएगा। परन्तु आधुनिक गांधीवादियों का अभिमत भी इससे बहुत भिन्न नहीं है, भले ही वह आदरपूर्ण शिष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया जाता हो। हमारे अनेक लोग गांधीजी के नाम पर किसी न किसी प्रकार की व्यक्तिगत धून में ही उलझ गये हैं। कभी तो हम रास्तों की सफाई करने लग जाते हैं, तो कभी खादी पर उतर आते हैं, तो कभी १९४४ से प्रचलित ख़ास गांधीवादी प्रार्थना बिना समझे गाने लग जाते हैं। ऐसी प्रार्थना शब्दों एवं उच्चारणों की केवल खडखड ध्वनि होती है।

कुछ वर्ष पूर्व तमिलनाडुमें खादी ग्रामोद्योग संघ के एक प्रमुख अग्रणी को किसी देशभक्त ने पूछा कि राज्य में पुराने स्वदेशी चरखे को क्यों छोड दिया गया है। उसे उत्तर मिला कि यह पुराना चरखा पंजी के २० पृष्ठ खा जाता है। अब चरखा तो सही मायने में लोगों को रोजी रोटी देने के लिये है, हिसाब की सुगमता के लिये नहीं है। और एक गांधीवादी को कार्यकर्ताने पूछा कि तमिलनाडु में ग्रामोद्योग साबुन इतनी कम कीमत पर बेचना कैसे सम्भव होता है। क्या इसका अर्थ यह है कि उसमें वनस्पतिजन्य तेल के स्थान पर प्राणीज चरबी का उपयोग होता है ? उसे उत्तर मिला, 'ऐसे प्रश्न खडे ही क्यों किये जा रहे हैं ?'

३.

गांधीजी का जीवन, उन्हें उद्वेलित करनेवाली बातें, विश्व, देश तथा देशके लोगों के प्रति उनका दृष्टिकोण, उन्होंने दिये हुए विचार एवं उन विचारों को मूर्त रूप

देने के लिये उन्होंने दिये हुए कार्यक्रम एवं संस्थायें - इन सभी का वर्णन किस प्रकार से किया जा सकता है ?

२४ नवम्बर १९२५ को उन्होंने 'मेरे सत्य के प्रयोग' नाम से अपना आत्मचरित्र लिखना प्रारम्भ किया। उसमें उन्होंने लिखा, 'मैं जो प्राप्त करना चाहता हूं, तीस वर्षों से जिसे प्राप्त करने के लिये मैं प्रयासरत हूं वह है आत्मसाक्षात्कार, ईश्वर का साक्षात् दर्शन, मोक्ष'। ईश्वर के साक्षात् दर्शन की तीव्र आकांक्षा तो बचपन में वे काठियावाड में रहते थे तब से, और अधिक निश्चित रूप से १८९३ से दक्षिण आफ्रिका में रहने लगे तब से उन पर कब्जा जमाये रही है।

इसी प्रकार का दूसरा एक महत्त्वपूर्ण कथन उन्होंने 'हिन्द स्वराज' के रूप में किया है। नवम्बर-दिसम्बर १९०९ में जब वे इंग्लैण्ड से आफ्रिका जा रहे थे तब जहाज पर गुजराती भाषा में लिखी गई यह छोटी सी पुस्तिका है।[१२] इस प्रारम्भिक पुस्तिका में भारत में किस प्रकार का समाज होना चाहिये इस विषय पर गांधीजी के विचारों का निरूपण है। उनको लगता था कि भारत में अभी अभी तक इसी प्रकार का समाज था। इस प्रकार के समाज के कारण ही भारत अन्य देशों की तुलना में श्रेष्ठ था। वर्तमान आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की तुलना में तो यह समाज निश्चित रूप से श्रेष्ठ ही है। 'हिन्द स्वराज' में निरूपित सादगीपूर्ण रचना और व्यावहारिक सादा जीवन मनुष्य के श्रेय और प्रकृति के सन्तुलन के लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त है ऐसा उनका मानना था।

'हिन्द स्वराज' लिखने के एक मास पूर्व उन्होंने अपने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता विषयक विचारों के सन्दर्भ में उठे प्रश्नों के उत्तर दिये थे। उन्होंने कहा था कि लोग यदि निश्चय करते हैं तो पश्चिमी सभ्यता की यन्त्रसामग्री और संस्थायें उखाड कर फेंकी जा सकती हैं।'[१३]

ब्रिटिश शासन के परिणाम स्वरूप भारतीय रचना, पद्धति एवं सरंजाम का जो विनाश हुआ था उसके संकेत तो उन्हें बहुत प्रारम्भ में ही प्राप्त हो गये थे। ब्रिटिशरों ने जानबूझकर जो नीतियां बनाई थीं उनके कारण से भारतीय जनजीवन कितना दीन और दरिद्र बन गया था उसका अत्यन्त स्पष्ट चित्र उन्हें दिखाई देता था। साथ ही उनका यह भी अनुभव था कि दक्षिण आफ्रिका में और भारत में उनके आह्वान को लोगों ने साहस, निर्भयता और अपेक्षा से युक्त कितना स्वैच्छिक और बलवान प्रतिसाद दिया था। उन्होंने यह भी देखा था कि लोगों ने अपनी पुरानी पद्धति और परम्परा को अभी भी संजोकर रखा है। इसे देखकर उनका अभिप्राय बना था कि भारत के भौतिक

और आध्यात्मिक जीवन की जो हानि हुई है वह अभी गहरी नहीं उतरी है। वह अभी सतही है। उचित प्रोत्साहन और सहारा प्राप्त होते ही इस सामग्री, पद्धति और परम्परा का प्रयोग करके एक चैतन्यपूर्ण जीवन को पुनःप्रस्थापित करने की आकांक्षा जगाई जा सकती है।

सम्भवतः उन्हें ऐसा भी लगा होगा कि निश्चय हो जाए तो भारत के लोग अन्याय नहीं सहेंगे और प्रतिरोध के लिये उठ खडे हो जायेंगे। लन्दन की 'वैजिटेरीयन सोसाइटी' की 'वैजिटेरीयन' नामक जर्नल में १८९१ में उन्होंने एक लेख लिखा था। उसमें भी यह बात स्पष्ट रूप से ध्यान में आती है। नमक लोगों के लिये अत्यन्त आवश्यक चीज है। उस पर भी कर लगाना लोगों को उससे वंचित करने के समान है। इसका उल्लेख उन्होंने इस लेख में किया।[१४] साथ ही उसी अरसे में भारत में हो रहे गोहत्या विरोधी आन्दोलन की जानकारी भी दी।[१५] गोहत्या के विरोध में आन्दोलन सन् १८८० के पूर्व घटी हुई एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। ब्रिटिश वायसरॉयने उसकी तुलना सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के साथ की थी।[१६] रानी विक्टोरियाने उसे मुस्लिम विरोधी नहीं अपितु अंग्रेज विरोधी कहा था।[१७] गांधीजी की आयु उस समय केवल २२ वर्ष की थी।

परन्तु मोक्ष की साधना और 'हिन्द स्वराज' के प्रचार प्रसार के साथ ही गांधीजी प्रातःकाल से देर रात तक अन्य अनेक कार्योंमें व्यस्त रहते थे।

सन् १८९१ में वे लन्दन से वापस आये। उसके बाद उन्हें जरा भी फुरसत नहीं थी; कोई अवकाश का दिन नहीं था। ये सैंकडों छोटे मोटे काम महात्मा गांधी और उनका काल तथा महात्मा गांधी और भारत के करोडों लोगों को जोडने वाली कडी थे। यह भी सत्य है कि यही सारी गतिविधियां मोक्षप्राप्ति और 'हिन्द स्वराज' को साकार रूप देने की साधना भी थीं, क्यों कि उनके लिये ईश्वर 'न स्वर्ग में, न पाताल में, अपितु सब के हृदय में' था और उनका प्रयास 'मानव सेवा से इश्वरप्राप्ति' के लिये था।[१८]

१९३६ में उन्होंने इस विचार को अधिक स्पष्ट रूप में रखा। उन्होंने कहा, 'मैं समग्र का एक अंश हूं। ईश्वर को मैं मनुष्य से अलग करके नहीं देख सकता। मेरे देशवासी मेरे प्रथम पडौसी हैं। वे सब इतने निःसहाय हैं, इतने अकिंचन हैं, इतने निर्बल हैं कि मैंने उनकी सेवा करनी ही चाहिये। यदि मैं अपने आपको समझा सकूं कि मैं हिमालय की किसी गुफामें ईश्वर को पा सकता हूं तो मैं तुरन्त हिमालय में चला जाऊंगा। परन्तु मैं जानता हूं कि ईश्वर मनुष्यता से अलग कहीं नहीं है'।[१९]

१९३९ में वे इस विषय में अधिक दृढ थे। उन्होंने लिखा,

'मैं अपने इन करोड़ों देशवासियों को पहचानने का दावा करता हूँ। चौबीसों घंटे मैं उनके साथ रहता हूँ। उनकी हिमायत करना मेरा पहला और आखिरी काम है, क्योंकि मैं और किसी ईश्वरको नहीं, सिर्फ उस ईश्वरको मानता हूँ जिसका निवास करोड़ों के मूक हृदयों में है। वे लोग ईश्वरकी मौजूदगी नहीं पहचानते; मैं पहचानता हूँ। और मैं इन करोड़ों की सेवा द्वारा सत्यरूपी ईश्वर की या ईश्वररूपी सत्य की पूजा करता हूँ।'[२०]

गांधीजी की उपस्थिति और उनके आह्वान से लाखों लोगों के मन में साहस और विश्वास जगे। वे घोर निद्रा और प्रमाद से जागे और उन्होंने प्रतिसाद दिया। प्रथम दक्षिण आफ्रिका में और १९१५ के बाद भारत में जिस त्वरित गति से लोगों का यह रूपान्तरण हुआ उसे भारतीय परम्परा, रचना और सामग्री का कायाकल्प ही कहा जा सकता है। पूर्व में जो मृतःप्राय और जीर्णशीर्ण लगता था, जिसे उपयोग में लाये जाने योग्य माना ही नहीं जा सकता था वही सब गांधीजी की उपस्थिति में चैतन्यपूर्ण और क्रियाशील लगने लगा। सन् १९१६ तक गुजरात में चरखा ढूंढने पर भी नहीं मिल रहा था। १९वीं शताब्दी में भारतीय सामग्री को कितनी हानि पहुंची थी और किस सीमा तक ह्रास हुआ था इसका ही यह संकेत है।

भारत और भारतीय समाज के सामाजिक एवं राजकीय पहलुओं के प्रति गांधीजी को कितनी चिन्ता थी इसीका निरूपण अनुवर्ती अध्यायों में किया गया है। ईश्वर साक्षात्कार, मोक्षप्राप्ति, जीवन के गहनतम रहस्यों की खोज आदि अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों की प्रत्यक्ष चर्चा इनमें नहीं की गई है। उन सभी के विषय में इतनी विस्तार से इतनी अधिक चर्चा की जा चुकी है कि उसकी यहां चर्चा करना आवश्यक नहीं है। मेरा भी इन विषयों का ज्ञान सामान्य मनुष्य से थोडा भी अधिक नहीं है। उस दृष्टि से भी यह चर्चा अनधिकार चेष्टा होगी। इसके अलावा, मेरी धारणा है कि इन सभी विषयों की प्राचीन और अर्वाचीन समय के ऋषियोंने, पण्डितोंने और गुरुओंने पर्याप्त चर्चा की है। ये विषय भी सनातन हैं। अतः अब ये चर्चा के विषय नहीं रहे हैं। गांधीजी स्वयं अत्यन्त धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। तो भी सन् १८९१ से १९४८ तक के समय में उनका जीवन और कार्य भारतीय समाज की मुक्ति के लिये ही समर्पित था। उनके मनमें श्रद्धा थी कि उनके प्रयासों से भारत स्वतन्त्र होगा और वातावरणमें नवचैतन्य जगेगा। गांधीजी की विशेषता इस बात में थी कि भारत की मुक्ति और नवचैतन्य का आधार जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि थी और देश का सामान्य जन

उसके साथ अविभाज्य रूप से सम्बद्ध था। इस आध्यात्मिकता के कारण से ही वे भारत के लोगों के मनों में साहस, निर्भयता और विश्वास निर्माण कर सके और सत्य और अहिंसा में अडिग रहकर अन्याय का प्रतिकार करने का निश्चय करा सके।

सन्दर्भ

१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ७६, पृ. ३८४-३९६, ३९६-४०१, अखिल भारतीय काँग्रेस समिति में भाषण, मुम्बई, ८-८-१९४२.
२. जे. डोक की पुस्तक का प्रकाशन भारत सरकार के प्रकाशन विभाग की ओर से १९९२ में हुआ था। पृ. ११६
३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १०, पृ. ५१
४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ४८, पृ. १९३ से २०६, चैथम हाऊस बैठक में भाषण, २०-१०-१९३९, पृ. १९९
५. 'रमणीय वृक्ष', धर्मपाल, पुनरुत्थान, २००७
६. सेवाग्राम : गांधी सेवा संघ, १९२३-१९४० की बैठकों के वृत्तान्तों की पुस्तक, १९३४-४० के सम्मेलनों का वृत्त, कुछ खुले कागज (सन् २००० से अब ये कागज उपलब्ध नहीं हैं।)
७. वही, सम्मेलन वृत्त १९३६, १९३८
८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय',खण्ड ७१, पृ. २४३-२४९, संघ को निलम्बित करने के विषय में चर्चा का वृत्त
९. 'दिनमान' साप्ताहिक, दिल्ली, १४-२० मार्च, १९८२
१०. गांधीजी द्वारा प्रारम्भ किये गये एवं प्रकाशित किये गये पत्र थे : 'इण्डियन ओपिनियन' (१९०६), 'यंग इण्डिया' (१९१९ से १९३९), 'नवजीवन' (१९१९ से १९३१), 'हरिजन' (१९३३-), 'हरिजन बन्धु' (१९३३)। अन्तिम तीन १९४८ के बाद भी प्रकाशित हो रहे थे।
११. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय',खण्ड ३९, 'सत्य के प्रयोग' पृ. १-४०३, प्रस्तावना, पृ. ३ (१९२५-२९)
१२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १०, 'हिन्द स्वराज'
१३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ९, १३-१०-१९०९ का हैम्पस्टीड में भाषण, पृ. ५३३, १४-१०-१९०९ का एच.एस.एल. पोलाक को पत्र पृ. ५३५-५४०
१४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १, भारतीय शाकाहारी-१.
१५. वही
१६. आई ओ एल : एल/पी एण्ड जे/२५७/१८९४, २८-१२-१८९३ की गवर्नर जनरल लोर्ड लैन्सडाउन की टिप्पणी
१७. आई ओ एल, ८-१२-१८९३ का रानी विक्टोरिया का गवर्नर जनरल लैन्सडाउन को पत्र
१८. 'यंग लीडर' ४-८-१९२७, पृ. २४७-२४८
१९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६३, पृ. २६१-६२, २५-८-१९३६ को मॉरिस फ्राइडमन के साथ चर्चा
२०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६९, पृ. ३७, ७-३-१९३९, अनशन समाप्ति पर राजकोट में प्रैस को दिया वक्तव्य.

२. हिन्द स्वराज

महात्मा गांधी ने 'हिन्द स्वराज' की रचना १९०९ में की। परवर्ती काल में उन्होंने दो प्रकार से इसका उल्लेख किया है। एक तो उन्होंने कहा कि पुस्तक इतनी 'सीधी सादी थी कि कोई उसे गंवार ही मानेगा।' दूसरा, तीस वर्षों के बाद भी उसका 'एक भी विचार' वे बदलना नहीं चाहते थे। भारत की संस्कृति को वे स्वयं और उनके अनेकानेक समकालीन भारतीय जिस रूप में जानते थे उस संस्कृति के प्रति उनके हृदय में आत्यन्तिक प्रेम और आदर की भावना थी। इस प्रेम और आदर के कारण से उनकी राष्ट्रभक्ति अत्यंत प्रगाढ बनी हुई थी। 'हिन्द स्वराज' उसी राष्ट्रभक्ति की फलश्रुति थी। भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम और आदर संजोने के साथ साथ उन्होंने विश्व की अन्य संस्कृतियों के विषय में सम्यक् जानकारी प्राप्त की हुई थी, और उनके विषय में उनकी समझ भी विकसित स्वरूप की थी। साथ ही उनके पास अन्तर्दष्टि और दीर्घदृष्टि भी थी। उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पश्चिमी दुनिया में भी जो लोग प्राकृतिक एवं सादगीपूर्ण जीवन का पुरस्कार करते थे उनका अध्ययन करने के परिणामस्वरूप अपने विचारों के लिये बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति उन्हें प्राप्त हुई थी। यह सब 'हिन्द स्वराज' में परिलक्षित हुआ था।

दिसम्बर १९०९ के 'हिन्द स्वराज' के प्रथम गुजराती भाषा में मुद्रण की प्रस्तावना में गांधीजी ने लिखा,

'पुस्तक में प्रस्तुत विचार मेरे हैं और मेरे नहीं है। वे मेरे है क्योंकि मैं उनके अनुसार आचरण करने की आशा करता हूँ। वे मानो मेरी आत्मा में बस गये हैं। वे मेरे नहीं हैं; क्योंकि उन्हें मैंने ही अपने चिन्तन के द्वारा ढूँढ़ निकाला हो, सो बात नहीं; वे कई पुस्तकें पढ़ने के बाद बने हैं। अपने मन में भीतर ही भीतर मैं जिस चीज को महसूस करता था उसे उन पुस्तकों से समर्थन मिला।

यह सिद्ध करने की तो कोई जरुरत नहीं कि जो विचार मैं पाठकों के

सम्मुख रख रहा हूँ, ऐसे कोई भारतीय भी, जिन्हें 'सभ्यता' की छूत नहीं लगी है, उसी विचार के हैं। यूरोप के भी हजारों लोग ऐसा ही सोचते हैं, यह बात पाठकों के मन में मैं अपने उदाहरण के बल पर अंकित कर देना चाहता हूँ।'[१]

केवल तीन मास बाद, मार्च १९१० में उसके प्रथम अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना में उन्होंने घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार भारत में जिस संस्कृति का प्रदर्शन कर रही है वह तो शयतान का साम्राज्य है, और वे स्वयं जिसे जानते और समझते हैं, वह प्राचीन भारतीय संस्कृति ईश्वर का साम्राज्य है। ब्रिटिश युद्ध के देवता के प्रतिनिधि हैं, जब कि प्राचीन भारत के लोग प्रेम के देवता के। उन्होंने लिखा,

'मेरे देशी भाई कहते हैं कि आधुनिक सुधार के दूषण के बीज अंग्रेज हैं। अतः उनका मानना है कि अंग्रेज खराब हैं, उनका सुधार नहीं। परन्तु उनकी यह मान्यता आत्मघाती है। वे यदि अपने ही प्रभावपूर्ण सुधार अमल में लाते हैं तो अंग्रेज उन्हें ग्रहण करेंगे और हिन्दीवान बन जायेंगे, और नहीं तो निष्प्रभावी बनकर चले जायेंगे। इसी बात को समझाने के लिये 'हिन्द स्वराज' लिखी गई है।'[२]

भारत में 'हिन्द स्वराज' प्रतिबंधित पुस्तक थी। भारत के बाहर वह मुक्त थी। अत: भारत के बाहर अनेक लोगों ने वह पढ़ी। उनमें से कुछ लोगों को लगा कि यह छोटी सी पुस्तिका ब्रिटिशरों के प्रति धिक्कार की भावना जगाएगी। गांधीजी को जब इसका पता चला तब मई १९१४ में प्रकाशित द्वितीय गुजराती संस्करण की प्रस्तावना उन्होंने फिर से लिखी। इस प्रस्तावना में उन्होंने अपनी भूमिका के विषय में स्पष्टता करते हुए कहा, 'मेरी अपनी बात कहूं तो मैं वर्तमान में कहीं पर भी समझौता करने के लिये जरा भी प्रस्तुत न होनेवाला यूरोपीय संस्कृति का शत्रु हूँ।'

उन्होंने लिखा,

'मेरे कान में यह बात आई है कि यद्यपि 'हिन्द स्वराज्य' लगातार यही सीख देता है कि हमें किसी भी स्थिति में, किसी भी समय शरीरबल का आश्रय नहीं लेना चाहिए और अपना साध्य सदा आत्मबल से ही प्राप्त करना चाहिए; लेकिन सीख जो भी रही हो, परिणाम की दृष्टि से उससे अंग्रेजों के प्रति तिरस्कार का भाव और उनके साथ हथियारों से लड़कर या और किसी तरह मारकर उन्हें भारत से निकाल देने का विचार पैदा हुआ है। यह सुनकर मुझे दु:ख हुआ। 'हिन्द स्वराज' लिखने में यह हेतु बिलकुल नहीं था। और मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें

जिन लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है, वे उसे बिलकुल नहीं समझे हैं। में स्वयं अंग्रेजों या अन्य किसी भी राष्ट्र की जनता या व्यक्तियों के प्रति तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखता। जैसे किसी महासागर की जलराशि की सारी बूंदें एक ही अंग हैं उसी प्रकार सब प्राणी एक ही हैं।'[३]

गांधीजी बहुत ही व्यावहारिक बुद्धि वाले थे। परंतु अपने दर्शन के प्रति अत्यन्त निष्ठावान थे। अत: कई बार उनके विचार और व्यवहार में विरोध का आभास होता था। वास्तविक जीवन में निर्णय लेते समय यह बात उभरकर दिखाई देती थी। १९२१ की 'हिन्द स्वराज' के चतुर्थ भारतीय संस्करण की प्रस्तावना में वे घोषित किये बिना नहीं रह सके,

'लेकिन साथ ही मैं पाठकों को सावधान भी करना चाहूँगा कि कहीं वे यह न सोचने लगें कि इस पुस्तिका में वर्णित स्वराज्य की स्थापना करना ही आज मेरा ध्येय है। मैं जानता हूँ कि अभी भारत उसके लिए तैयार नहीं हुआ है। इसे अविनय समझा जा सकता है, लेकिन मेरा ऐसा ही विश्वास है। इसमें जिस स्वशासन की बात कही गई है, व्यक्तिगत रूप से तो मैं उसीके लिए काम कर रहा हूँ। परंतु आज मैं जो संघबद्ध कार्य कर रहा हूँ वह भारतीय जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप संसदीय ढंग का स्वराज्य प्राप्त करने की दृष्टि से कर रहा हूँ। मैं रेलों और अस्पतालों को खतम करने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ, वैसे यदि वे कुदरती तौर पर नष्ट हो जाएँ तो मैं उसका स्वागत ही करूंगा। न तो रेलें और न अस्पताल ही ऊँची और पवित्र सभ्यता की कसौटी है। ज्यादा से ज्यादा हम उन्हें एक जरूरी बुराई ही मान सकते हैं। किसी राष्ट्र के नैतिक मान को तो वे एक इंच भी नहीं बढ़ाते। न मेरा मकसद अदालतों को स्थायी रूप से खत्म कर देना ही है; हालाँकि मैं मानता हूँ कि यह एक ऐसी बात है, सभी को जिसके खत्म हो जाने की कामना करनी चाहिए। सारी मशीनों और मिलों को खत्म करने की कोशिश तो मैं और भी कम कर रहा हूँ। इसके लिए, लोग आज जितने तैयार हैं, उससे कहीं ऊँचे दर्जे की सादगी और त्याग की जरुरत है।'[४]

अपने इस प्रकार के अन्तर्विरोधों के विषय में गांधीजी का स्वयं का क्या अभिप्राय था वह उनके एक लेख में निरूपित है। १९३९ के इस लेख का शीर्षक है 'न पाटी जा सकनेवाली खाई'। पूर्व में गांधीजी ने एक लेख लिखा था। उसका शीर्षक था 'क्या भारत लडाकू देश है ?' एक पाठक ने इस लेख के विषय में टिप्पणी की थी। उस टिप्पणी के उत्तर में गांधीजी ने 'न पाटी जा सकनेवाली खाई'

लेख लिखा था। 'हरिजन' में वह प्रकाशित हुआ था। इस लेख के समापन में गांधीजी ने लिखा था,

'इस विचारमात्र से मुझे कोई कम परेशानी नहीं होती की युद्धकला के आधुनिक तरीकों की शिक्षा प्राप्त कर भारतीय सैनिक अपने घरों को मोटर की भावना लेकर लौटेंगे। गति ही जीवन का अंतिम ध्येय नहीं है। मनुष्य यदि अपने काम पर पैदल चलकर जाए, तो उसे चीजों को देखने-समझने का ज्यादा अच्छा अवसर मिलता है, और वह अधिक सच्चा जीवन व्यतीत करता है।'[५]

(शिमला जाते हुए रेलगाडी में, २५ सितम्बर, १९३९)

यह पढकर उस पाठक की धारणा बनी की लेख के अन्त में गांधीजी ने जो लिखा है वह उन्होंने पूर्व में जो लिखा था कि 'स्वधर्म का पालन करनेवाले मनुष्य का जीवन सार्थक होता है' उसी का उपहास करने वाला है। अत: अपना पक्ष रखते हुए गांधीजी कहते हैं,

'लेकिन मुझे उनके मजाक में जो डंक है उसे निकालकर फेंक देना चाहिए; और इसलिए अपने मित्र को मैं यह बतला दूँ कि मैंने जब चर्चित लेख लिखा तब मेरा दिमाग ठिकाने पर था। जिस जगह यह लिखा गया था उस जगह का उल्लेख मैं आसानीसे टाल सकता था। पर मैं अपनी बात को ज्यादा वजन देना चाहता था, और मेरे तथा मेरे आदर्श के बीच जो गहरी खाई है, उससे पाठकों को अवगत कराना चाहता था। जिनके पैर डगमगाते हों, वे इस तथ्य को हृदय में अंकित कर लें कि यद्यपि मेरे आदर्शों का स्पष्ट विरोध प्रदर्शित करनेवाली मेरी टिप्पणी ने इस मित्र को विनोद का कारण दिया है, तो भी मैंने ऐसी साख हासिल कर ली है कि मैं जिन आदर्शों का दावा करता हूँ उनके अनुरूप आचरण करने का भरसक प्रयत्न भी करता हूँ। मुझे यदि अपने आदर्श के अधिकाधिक समीप पहुँचने का अनवरत प्रयत्न करना है, तो मुझे चाहिए कि संसार को अपनी निर्बलताएँ और निष्फलताएँ भी देखने दूँ, ताकि मैं दम्भ से बच जाऊँ और शर्म के मारे भी इस आदर्श को प्राप्त करने की यथाशक्ति साधना करुँ। इस मित्र ने मेरे लेख में अन्तर्विरोध होने की जो बात कही है, उससे यह भी जाहिर होता है कि आदर्श और व्यवहार के बीच हमेशा एक ऐसी खाई रहती है जो कभी पाटी नहीं जा सकती। आदर्श को प्राप्त करना यदि सम्भव हो जाए, तो वह आदर्श ही नहीं रहेगा। आनन्द तो साधना में है, सिद्धि में नहीं। क्योंकि ज्यों ज्यों हम अपने ध्येय की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों अधिकाधिक मनोरम दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं।'[६]

आगे लिखते हैं,

'लेकिन अब मैं अपने पत्रलेखक मित्र के व्यंग्य पर आता हूँ। उनसे तथा अपने पाठकों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं जो उन पंक्तियों को लिख सका उसका कारण यह है कि मुझे मोटर में या रेल में अथवा बैलगाड़ी में भी बैठकर मुसाफिरी करने में कोई आनन्द नहीं आता। आनन्द तो हमेशा पैदल चलने में ही आता है। रेल की एक एक पटरी उखाड़ ली जाये, और मरीजों और अपंगों के सिवा सबको अपने-अपने काम पर पैदल चल कर जाना पड़े, तो मुझे इसका जरा भी दुःख नहीं होगा । मैं ऐसी सभ्यता की कल्पना कर सकता हूँ, जिसमें मोटर का मालिक होना कोई श्रेय की बात नहीं मानी जायेगी, और जिसमें रेल के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उस सभ्यता की स्थापना के लिए मैं प्रयत्न भी कर रहा हूँ। संसार किसी समय जितना विशाल था, यदि वह फिरसे उतना विशाल बन जाये, तो मेरे लिए यह कोई दुःखद घटना नहीं होगी। 'हिन्द स्वराज' १९०९ में[1] लिखी गई थी। उसके बाद उसके बहुत से संस्करण प्रकाशित हुए हैं और संसार की अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद भी हुए हैं। गत वर्ष श्रीमती सोफिया वाडियाने 'आर्यनपथ' सामयिक का 'हिन्द स्वराज' संस्करण निकाला था उसके लिए उन्होंने मुझसे प्रस्तावना[2] लिखने के लिए कहा। इसलिए मुझे उसे एक बार फिर ध्यान से पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पाठक जान लें कि मैं उसमें व्यक्त एक भी विचार में परिवर्तन नहीं कर सका। उसकी भाषा में भी कोई हेरफेर करने की मेरी इच्छा नहीं हुई। यह मूल गुजराती का अच्छा अनुवाद है। इतनी सादी (कि शायद मूर्खतापूर्ण समझी जा सकती है) इस छोटी-सी पुस्तक को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि यह तथाकथित अज्ञान और अंधकार के युग में पीछे लौटने का प्रयत्न नहीं है, बल्कि वह ऐच्छिक सादगी, गरीबी और धीमेपन में सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न है। इसे मैंने अपना आदर्श चित्रित किया है। मैं खुद इस आदर्श तक कभी पहुँचने वाला नहीं, इसलिए देश से भी इस तक पहुँचने की मैं अपेक्षा नहीं कर सकता। लेकिन आज लोगों में नित नयी वस्तु प्राप्त करने की जो ललक दिखाई देती है, आकाश में विचरण करने और अपनी आवश्यकताओं को निरन्तर बढ़ाते जाने की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है उसके प्रति मेरे मन में कोई मोह नहीं है। ये सब बातें हमारी अन्तरात्मा का हनन करती है। मनुष्य की बुद्धि आज जिन चकरा देने वाली ऊँचाइयों को छूने का प्रयास कर रही है, उससे हम अपने सिरजनहारसे दूर होते जा रहे हैं, उस सिरजनहारसे जो हमारे उतना ही करीब है

जितना कि नख उँगली के करीब होता है।

इसलिए, जब मैं घंटे में चालीस मील की रफ्तार से सफर करता हूँ, तब भी मुझे निरन्तर यह भान रहता है कि यह एक ऐसी बुराई है जो आवश्यक हो गई है, और मेरा सर्वोत्तम काम तो ७०० आदमियों की बस्तीवाले छोटे-से गाँव में और उसके आस पास के गाँवों में है, जहाँ मैं वहाँ से पैदल चलकर जा सकता हूँ। लेकिन अत्यन्त व्यावहारिक व्यक्ति होने के नाते केवल यह बताने के लिए कि मेरे आचरण में किस हद तक संगति है, मैं रेल या मोटर की मुसाफिरी से नहीं बच सकता।'[७]

भारत ने किस दिशा में आगे बढ़ना चाहिये इस विषय पर अक्तूबर और नवम्बर १९४५ में गांधीजी और जवाहरलाल नेहरू के बीच पत्राचार हुआ था। उसे पढ़ने पर स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि १९३९ में गांधीजी ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया था उनके प्रति जीवन के अन्त तक वे एकनिष्ठ थे। यह पत्राचार इस बात को भी दर्शाता है कि गांधीजी और नेहरूजी के बीच में कितनी बडी खाई थी।[८]

'हिन्द स्वराज' में आधुनिक पश्चिमी संस्कृति के ध्वंस की रोमहर्षक कथा तो है ही, साथ में गांधीजी चाहते थे वैसे समाज और उस समाज के निर्माण हेतु आवश्यक नियमन और संयम भी इस में परिलक्षित हैं। इस प्रकार के समाज की रचना करने के लिये आवश्यक प्रक्रिया, अथवा कम से कम एक रूपरेखा भी यदि प्रस्तुत की जाती है तो किसी न किसी प्रकार का प्रयास हो सकता है। ऐसा करने के लिये गांधीजी का स्वयं का जीवन, उनका सामान्यतम व्यवहार एवं पद्धति ही श्रेष्ठ मार्गदर्शक है।

१९१९ से १९३९ के कालखण्ड में भारत के लोगों ने अपने स्वयं के, अंग्रेजों के और समस्त विश्व के सम्मुख स्पष्ट किया कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में उन्होंने जो संघर्ष छेड दिया है वह राजकीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु था। १९३३ से १९४० का कालखण्ड स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद 'हिन्द स्वराज' में वर्णित संकल्पना के आधार पर भारत का स्वरूप कैसा बनेगा वह दर्शाने के लिये था। अतिशय जटिल कारणों से इस संकल्पना को मूर्त रूप प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु इसी कारण से इस संकल्पना को अध्ययन, समीक्षा एवं अनुसन्धान के माध्यम से ठीक से समझने की अधिक आवश्यकता है।

१९३३ में गांधीजी ने साबरमती आश्रम का विधिवत् विसर्जन किया। आश्रम

की भूमि एवं अन्य सम्पत्ति नवगठित हरिजन सेवक संघ को दान कर दी। उसके बाद तुरन्त पूरे वर्ष तक चलनेवाली पूर्ण भारत की यात्रा की। उस समय उनकी आयु ६४ वर्ष की थी। यह यात्रा हरिजनों के लिये थी। इस यात्रा के माध्यम से वे भारत के लोगों को समझ देना चाहते थे कि भारत के दलितों के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिये। १९३४ में उनकी भारतयात्रा पूरी हुई। उसके बाद उन्होंने वर्धा को अपना नया केन्द्र बनाया। एक वर्ष के बाद वर्धा से छह मील की दूरी पर स्थित सेवाग्राम में उन्होंने अपने आश्रम की स्थापना की। उसी समय उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय किया। वह निर्णय था जिस भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस के वे सर्वोच्च नेता एवं मार्गदर्शक थे उसके सामान्य सदस्य पद का भी त्यागपत्र देने का। इस त्यागपत्र का स्वीकार होने से पूर्व उन्होंने काँग्रेस को आश्वासन दिया था कि उनका आवश्यक मार्गदर्शन एवं परामर्श उसे अवश्य प्राप्त होते रहेंगे। गांधीजी के परामर्श का स्वीकार करते हुए कोंग्रेस ने अपने आप को भारत के व्यापक जनसमाज के प्रतिनिधि के रूप में परिवर्तित करना निश्चित किया। इस हेतु काँग्रेस ने नियम बनाया कि उसके तीन चौथाई सदस्य ग्रामनिवासी होंगे और केवल एक चौथाई नगरनिवासी।[९] काँग्रेस ने प्रस्ताव पारित किया कि यदि गाँवों का पुनर्गठन और पुनर्रचना करनी है तो मृत अथवा मृत:प्राय ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित और प्रोत्साहित करना पडेगा। उसके लिये अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की रचना करनी पडेगी। गांधीजी के परामर्श एवं मार्गदर्शन में एक प्रकार के संघ की रचना होते ही अंग्रेजों ने माना कि यह एक भयंकर और संकटपूर्ण बात है। केवल अधिकारी ही नहीं तो स्वयं वायसराय की भी यही धारणा थी।[१०]

यहां निरूपित भिन्न भिन्न घटनायें प्रथम दृष्टि में एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं लगती हैं। फिर भी आन्तरिक रूप से वे एक दूसरे के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं।

१९३२ में जब ब्रिटिशरों ने दलितों को हिन्दुओं से कानूनत: अलग प्रस्थापित करने के लिये प्रस्ताव प्रस्तुत किया और गांधीजी ने उसके विरोध में मरणान्त अनशन शुरू किया तभी वास्तव में यह नया चरण शुरू हुआ था। अनशन की घोषणा से भारत के प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील लोग हतबुद्ध हो गये, अनशन का प्रयोजन ही उनकी समझ में नहीं आया। परन्तु शेष भारत में अभूतपूर्व चेतना की लहर फैल गई। अनशन प्रारम्भ होने से कुछ ही दिनो में भारत के दलित, शेष हिन्दू और अंग्रेज, तीनों को उचित परिप्रेक्ष्य में बात समझ में आ गई। परिणाम भी इतना

यथोचित था कि गांधीजी ने अनशन समाप्त कर दिया।

इस समय २५ सितम्बर १९३२ को मुम्बई में आयोजित हिन्दुओं की एक ऐतिहासिक सभा में प्रस्ताव पारित हुआ। प्रस्ताव था,

'यह परिषद प्रस्ताव पारित करती है कि आज के बाद अब जन्मतः किसी को अछूत नहीं माना जाएगा; आज तक जिन्हें अछूत माना गया है उनका सार्वजनिक कुओं और सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग के विषय में शेष हिन्दुओं के समान ही अधिकार होंगे। इन अधिकारों को शीघ्रातिशीघ्र कानून की मान्यता प्राप्त करवाई जाएगी। यह मान्यता अगर पूर्व में ही प्राप्त नहीं हुई होगी तो स्वराज पार्लियामेण्ट में तो वह सर्वप्रथम कानून होगा।

विशेषरूप से निश्चित किया जाता है कि वर्तमान रूढि के अनुसार तथाकथित अछूतों को अभी मन्दिर प्रवेश के निषेध सहित जो सामाजिक परेशानियां उठानी पड रही हैं उनको न्यायपूर्ण एवं शान्तिपूर्ण ढंग से शीघ्रातिशीघ्र कैसे दूर किया जा सकता है यह देखने का सभी हिन्दू अग्रणियों का दायित्व माना जाएगा।'[११]

इस के कुछ ही समय बाद वाराणसी में आयोजित हिन्दुओं की सनातन धर्म महासभा में रूढिवादी विद्वान पण्डितों ने भी अपना अभिप्राय दिया कि, 'दलित भी सनातन धर्म का पालन करते हैं अत: वे सनातन धर्म से सर्व प्रकार से लाभान्वित हों इसकी ओर ध्यान देना सभी शेष हिन्दुओं का दायित्व है।'[१२]

१९३२ के अस्पृश्यता विरोधी अनशन से गांधीजी को भी नई दष्टि प्राप्त हुई थी। बाद में १९३४ में उन्होंने लिखा, 'अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन केवल अभी अस्पृश्य माने जाने वाले लोगों की अस्पृश्यता दूर करने हेतु नहीं है। इसका प्रयोजन अधिक व्यापक है। क्योंकि नगर के लोगों के लिये ग्रामनिवासी अस्पृश्य हैं।[१३] इस प्रकार की व्यापक अस्पृश्यता के निवारण हेतु ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करने का काम ही त्वरणीय है।

इस प्रकार गांधीजी के अनशन का परिणाम एवं गांधीजी द्वारा उठाये गये कदम, दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। १९४२ में भारत के ब्रिटिश सचिव का अभिमत था कि यदि दलितों को हिन्दुओं से अलग कर के उन्हें भी मुसलमानों की तरह अल्पसंख्यक माना जाए तो महात्मा गांधी और काँग्रेस दोनों को शह दी जा सकती है। परन्तु उसके अधीनस्थ लोगों को लगता था कि गांधीजी ने दलितों के लिये जो काम किया है उसके चलते दलित कार्ड मुस्लिम कार्ड की तरह प्रभावी सिद्ध नहीं होगा। उनकी इस प्रकार की धारणा होना कोई आश्चर्य की वात नहीं है।[१४]

अक्टूबर १९३४ में गांधीजी ने भारतीय काँग्रेस के सदस्य पद का त्यागपत्र दिया। उस समय उन्हें इस बात का जरा भी सन्देह नहीं था कि भारत राजकीय रूप से अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होगा। स्वतन्त्रता के लिये कुछ पीढियों तक प्रतीक्षा करनी पडेगी ऐसा भी उनको लगता नहीं था। अधिक चिन्ता तो उन्हें इस स्वतन्त्र भारत की वास्तविक स्थिति और रचना कैसी रहेगी इस बात की थी। उन्हें निश्चित रूप से यह लगता था कि 'मेरे प्रति श्रद्धा यदि आडे नहीं आती है तो अधिकांश अत्यन्त बुद्धिमान काँग्रेसी स्वतन्त्र भारत के लिये जो दिशा निर्धारित करेंगे वह मेरी दिशा से सर्वथा विपरीत होगी।' 'मैं यदि उनकी मेरे प्रति जो निष्ठा है उसी पर निर्भर रहूँगा तो उन्हें भारी कष्ट होगा।' उन्होंने स्वीकार किया कि 'अधिकांश बुद्धिमान काँग्रेसी मेरे विचार और मेरी पद्धति से बाज आ गये हैं। उनको लगता है कि काँग्रेस के स्वाभाविक विकास में मैं सहायक नहीं अपितु अवरोधक हूँ।' हाथकताई गांधीजी को 'देश का दूसरा फेफडा' और 'कृषि का अनुचर' लगती थी। परन्तु काँग्रेस के बुद्धिमान लोगों की उसमें सहमति नहीं थी। इतना ही नहीं तो अस्पृश्यता निवारण, असहयोग, अहिंसा और लोकतन्त्र विषयक संकल्पनाओं में भी उनकी मतभिन्नता थी। इस मतभिन्नता ने भी उन्हें काँग्रेस के सदस्य पद से त्यागपत्र देने के लिये प्रेरित किया।

१९३४ से १९४० के कालखण्ड में गांधीजी को असहयोग आन्दोलन का नेतृत्व नहीं करना था। अत: १९३४ के बाद जीवन के अन्तिम दिन तक जब भी उन्हें समय एवं अवसर प्राप्त हुआ तब उन्होंने स्वराज और स्वतन्त्रता की अपनी संकल्पना को मूर्त स्वरूप प्रदान करने में ही एक एक क्षण का उपयोग किया।

महात्मा गांधी के लिये स्वराज (स्वतन्त्रता, स्वशासन) एक सीधी छड जैसा नहीं अपितु एक वटवृक्ष जैसा था। वटवृक्ष के समान उसकी 'अगणित शाखायें थीं और सभी का महत्त्व मूल तने के समान ही था। किसी भी एक शाखा को पोषण देना सम्पूर्ण वृक्ष को पोषण देने के समान था। किस शाखा को कब पोषण दिया जाय इसके नियम नहीं बनाये जा सकते। परिस्थिति ही इस विषय में निर्णायक होती है।'[१५]

जुलाई १९४६ में उन्होंने स्वराज के लोकतन्त्र की एक ऐसे 'सागरीय वृत्त' के रूप में कल्पना की 'जिसके केन्द्र में व्यक्ति रहेगा। व्यक्ति हमेशा अपने से बाहरी वृत्त गांव के लिए समर्पित होने के लिए सिद्ध रहेगा, गांव ग्रामसमूह के लिये और क्रमश: सभी वृत्त अपने से बाहर के वृत्त के लिये विसर्जित होना स्वीकार करेंगे और

अन्त में समरस व्यक्तियों का ऐसा जीवन होगा, जहां कोई भी अपने अभिगम में आक्रामक नहीं होगा अपितु जिसके वे अंश हैं ऐसे सागरीय वृत्त की भव्यता के सब विनम्र सहभागी होंगे।[१६] उनके अभिप्राय में,

'असंख ग्रामों, नगरों और शहरों को समाविष्ट करनेवाली इस रचना में सभी वृत्त विस्तरित होते रहेंगे, कोई ऊपर नहीं उठते होंगे।' और 'सब से बाहर का वृत्त अन्दर के वृत्तों को कुचल नहीं डालेगा अपितु उसकी रक्षा करेगा; उसे बलवान बनायेगा और उसी प्रक्रिया में स्वतः भी बलवान बनेगा।'[१७]

अस्पृश्यता निवारण के, ग्राम एवं नगर में अवस्थित खाई पाटने के तथा ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करने के प्रयास के कारण प्रखर रूप से प्रतीति होने लगी कि प्रवर्तमान ब्रिटिश ब्रिटिश ढ़ाँचेवाली शिक्षापद्धति निरर्थक ही नहीं तो अत्यन्त विनाशक है और सभी स्तरों पर उसका विकल्प ढूँढने की और उसे प्रस्थापित करने की अनिवार्य आवश्यकता है। यही, वास्तव में गांधीजी की 'बुनियादी शिक्षा' नाम से प्रख्यात शिक्षापद्धति निर्माण करने की दिशा में प्रथम चरण था।

इन कल्पनाओं के प्रारम्भ, विमर्श एवं प्रवर्तन हेतु अन्यान्य गतिविधिओं से संलग्न एवं माहिर समविचारक लोगों का मंच आवश्यक था। इस आवश्यकता की पूर्ति गांधी सेवा संघ ने की। गांधीजी ने देश के समक्ष जो कार्यक्रम रखा था उसको परिचालित करने के लिये १९२३ में इसका सृजन किया गया था। बाद में जब गांधीजीने वर्धा को अपना नया केन्द्र बनाया[१८] तब सैंकडों लोगों को इसका सदस्य बनाने की दृष्टि से इसकी पुनर्रचना और विस्तार किया गया। उस समय गांधीजीने लिखा,

'गांधी सेवा संघ अपना नया संविधान बना रहा है। उसने कोई नई जिम्मेदारियां एवं बन्धन का स्वीकार नहीं करना तय किया है। उसमें ऐसे कार्यकर्ता जुडेंगे जिनके आदर्श समान होंगे। उनकी सम्पत्ति एक होना आवश्यक नहीं है।'[१९]

इन कार्यकर्ताओं में लेखक, शिक्षाविद्, वैज्ञानिक, कारीगर, वैद्य, सामाजिक कार्यकर्ता, संन्यासी एवं विद्वान तथा विदेशी शासन के विरुद्ध चल रहे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रूप से सहभागी लोगों का समावेश होता था।

गांधीजी श्रमिकों को इस प्रकार से संगठित करना चाहते थे कि कभी भी 'हडताल' या 'वर्गसंघर्ष' न हो। एक अग्रणी भारतीय समाचार पत्र ने इस विचार को

अपने सम्पादकीय लेख में स्थान दिया और इस प्रकार के शीर्षक देकर चमकाया कि इस नये मजदूर संगठन के 'कार्यकर्ताओं को गांधी सेवा संघ प्रशिक्षित करेगा।'[२०]

इस प्रकार १९३४ से १९४० तक गांधीजी सर्व सेवा संघ तथा अन्य अनेक कार्यकर्ताओं समेत नये भारत के लिये आवश्यक दृष्टिकोण, संस्थाओं एवं ढांचों के विषय में विचार करने में निरत रहे। साथ ही यह कोई विशेष रूपसे भिन्न कार्य नहीं होने के कारण ये सभी कार्यकर्ता कोंग्रेस के भी सदस्य बन सकते थे। विशेष अनुमति से नई बननेवाली धारासभाओं के लिये चुनाव प्रत्याशी भी बन सकते थे। १९३६ में गांधीजी ने ही कहा था,

'तथाकथित राजकीय और तथाकथित रचनात्मक कार्यक्रम में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। अपनी कार्यपद्धति में भी एकदूसरे से सर्वथा अलग ऐसे विभाग नहीं हैं।'[२१]

जनवरी १९३३ में उन्होंने एक पत्रकार से पूछा था, 'आप क्यों मानते हैं कि स्वराज अस्पृश्यता निवारण से स्वतन्त्र ऐसा कोई विषय है ?'

सितम्बर १९३९ में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ और भारत की राजकीय स्थिति में नाट्यात्मक परिवर्तन आया। भारतीय राष्ट्रवाद और ब्रिटिश आधिपत्य का संघर्ष स्पष्ट और तीव्र हो गया। गांधीजी पुनः एक बार राजकीय गतिविधियों में पूर्ण रूप से व्यस्त हो गये। साथ ही अन्य अनाकलनीय जटिल कारणों से फरवरी १९४० में गांधीजी को 'गांधी सेवा संघ' को केवल नियंत्रक समिति के रूपमें अवस्थित होने का परामर्श देना पडा। साथ ही उन्होंने अपेक्षा व्यक्त की कि बिना राजकीय गतिविधियों में उलझे संघ एक 'परास्नातक विद्यालय' अथवा 'अनुसन्धान केन्द्र' के रूप में रचना, सम्बन्ध एवं राजनीतितन्त्र के विषयों में उसी प्रकार से निरत रहेगा जैसे गत छह वर्षों में वे स्वयं और संस्था के रूप में संघ रहा था।[२३]

गांधीजी के राजकीय एवं आर्थिक विचार सामान्य रूप से अव्यावहारिक माने जाते थे। शिष्टतापूर्वक कहें तो उन्हें अदुन्यवी माना जाता था। सम्भव है कि २१ वीं शताब्दी में भी यह धारणा बनी रहे। तथापि पर्याप्त जानकारी, ज्ञान, समझ एवं प्रयोग के आधार पर परीक्षण नहीं किया जाता तब तक इस प्रकारका निष्कर्ष प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ है। कुछ हद तक इसलिये नहीं हुआ कि भारत ने स्वयं दूसरा ही रास्ता चुन लिया। इसके अलावा इससे सम्बन्धित सामग्री - सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, ब्रिटिश सरकार के अभिलेख और निजी कागजात - अभी अभी तक उपलब्ध नहीं थी। अब जब कि वह उपलब्ध हो

गई है गांधीजी के इन विचारों को गहराई से समझने की रुचि रखनेवालों को इस विषयका अनुसन्धान मूल्यवान प्रतिफल देनेवाला परिश्रम सिद्ध होगा।

सन्दर्भ

१. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड १०, पृ. ७, 'हिन्द स्वराज' की प्रस्तावना, २२-११-१९०९
२. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड १०, पृ. १८८-९०, 'इण्डियन ओपिनियन', २-४-१९१०
३. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड १२, पृ. ४११-२, 'इण्डियन ओपिनियन', २४-४-१९१४
४. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड १९, पृ. २७७-८, 'यंग इण्डिया', २६-१-१९२१
५. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ७०, पृ. २० १-२
६. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ७०, पृ. २४१-३, 'हरिजन' १४-१०-१९३९
७. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ७०, पृ. २४१-३, 'हरिजन' १४-१०-१९३९
८. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ८१, पृ. ३१९-२२, गांधीजी का नेहरू को पत्र ५-१०-१९४५,
ज. नेहरू : सिलैक्टेड वर्क्स, खण्ड १४, पृ. ५५४-७, नेहरू का गांधीजी को पत्र, ४-१०-१९४५
९. डी. जी. तेण्डुलकर, 'महात्मा', खण्ड ३९, पृ. ३७१ (१९५२)
१०. आई ओ आर : एल / पी एण्ड जे / ७ /६६३ : भारत सरकार, गृह विभाग सभी स्थानिक सरकारों को, दि. २३-११-१९३४ (एफ / ३/१६/३४, पृ. ७, अनुच्छेद २३), विषय : मुम्बई कोंग्रेस के ताजा निर्णयों से उत्पन्न परिस्थिति'। साथ ही -
वायसराय विलिंग्डन सेम्युअल होरे, सेक्रेटरी ऑव् स्टेट फॉर इण्डिया को। ११ नवम्बर १९३४ को विलिंग्डन ने लिखा, 'मैं मानता हूं कि गांधी की ग्रामोत्थान योजना का असली उद्देश्य किसानों के मस्तिष्क में कोंग्रेस के विचार ठूंसना है, ताकि वे दुगुने सामर्थ्य से प्रतिरोध करने लगे... इससे भविष्य में हमारी मुसीबतों में वृद्धि होगी। धारासभा में कोंग्रेस बलवान बनेगी और बाहर गांधी प्रचार करेंगे, परिणामतः हम दोनों के बीच में पिस जायेंगे।' किसी कारण से पत्र गोपनीय नहीं रहा और मध्यस्थ धारासभा में सरकार को उसके विषय में बहस की अनुमति देनी पडी। इसका सन्दर्भ देते हुए २१ जनवरी १९३५ को विलिंग्डनने होरे को लिखा, 'धारासभा में हमारे लिये कठिन स्थिति निर्माण होनेवाली है। गांधी की ग्रामोत्थान योजना के विषय में गृहविभाग की ओर से हमने जो अधिसूचना जारी की थी वह कोंग्रेस के हाथ लग गई है। वे इसका पूरा पूरा लाभ उठाएँगे।' (आई ओ आर : अेम एस एस : इ यु आर : ई २४० /८)
११. 'हरिजन', १९३३ के अधिकांश अंकों में प्रथम पृष्ठ के शीर्षभाग में मुद्रित
१२. 'हरिजन', १८-१२-१९३३, पंडित मदन मोहन मालवीय का ८ फरवरी १९३३ का गांधीजी को पत्र
१३. तेंडुलकर, 'महात्मा' खण्ड ४, पृ. २
१४. आई ओ आर : अेल /पी एण्ड जे /८/६८५ दलित वर्ग, सामान्य पत्र, पृ. १०१, ३१-

१२-१९४२ की कार्यालयीन प्रविष्टि। इससे पूर्व १६-१२-१९४२ को स्टेट सेक्रेटरी आमेरीने वायसराय लिनलिथगो को लिखा, 'आप के २१ नवम्बर के पत्र के साथ संलग्न डा. आम्बेडकर का दलित वर्ग की शिकायतों विषयक मसौदा मैंने पढा है। मुझे लगता है कि मुसलमानों की तरह उन्हें भी प्रोत्साहित करना चाहिये। एक के स्थान पर दो अल्पसंख्यक होना राजकीय दृष्टि से बहुत लाभकारी रहेगा। केवल मुस्लिमों के पक्षपाती और हिन्दू विरोधी की पहचान के स्थान पर अल्पसंख्यकों के सहायक की पहचान अधिक लाभकारी होगी।'

१५. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ५२, पृ. ४१०, ८-१-१९३३ को परमानन्द कापडिया को लिखा पत्र

१६. 'हरिजन', २८-७-१९४६, पृ. २३६-७, 'स्वतन्त्रता' शीर्षक का लेख

१७. वही

१८. १९३४ से ३६ गांधीजी वर्धा में रहे और १९३६ में सेवाग्राम गये। उसके बाद गांधी सेवा संघ अधिक व्यापक और अधिक सक्रिय हुआ। उसका पुनर्गठन होने के बाद नवम्बर १९३४ में वर्धा में एक विशाल सम्मेलन आयोजित हुआ। फरवरी - मार्च १९३६ में द्वितीय सम्मेलन सावली में, १६ से २० अप्रैल १९३७ में तृतीय सम्मेलन हुबली में, मार्च १९३८ में चतुर्थ सम्मेलन उडीसा के डेलांग में, ३ से ७ मई १९३९ में पंचम सम्मेलन बिहार के वृन्दावन में और फरवरी १९४० में षष्ठ सम्मेलन बंगाल के मालीकंडा में आयोजित हुआ था। इस अन्तिम सम्मेलन में संघ के व्यापक स्वरूप का त्याग कर उसे स्थिर समिति के रूप में सीमित कर देना तय हुआ था। सभी सम्मेलनों की कार्यवाही संघ के द्वारा प्रकाशित की गई थी। १९३७ के बाद के सम्मेलनों की कार्यवाही समाचार पत्रों में भी प्रकाशित की गई थी। इसके बाद के सम्मेलनों की जानकारी सरकार के गोपनीय विभाग के पाक्षिक वृत्त में प्रकाशित की गई थी। भारत सरकार के गुप्तचर विभाग ने इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान दिया था।

१९. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ५९, ५-१२-१९३४ को के. आर. मलकानी को लिखा पत्र

२०. हिन्दुस्तान टाइम्स, ३०-३-१९३८, पृ. १

२१. 'महात्मा', तेंडुलकर, खण्ड ४, पृ. ६६

२२. गांधी सेवा संघ की १९३४ के बाद की गतिविधियों ने केवल ब्रिटिश प्राधिकारियों के लिये ही प्रश्न निर्माण नहीं किये थे। गांधी सेवा संघ के सदस्यों के मन में भी संघ की भूमिका को लेकर आशंकायें जगी थीं। संघ के बाहर जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बसु का समर्थन प्राप्त नहीं था। संघ राजनीति में रुचि रखता है कहकर पंडित जवाहरलाल नेहरू उससे नाराज थे। २८-४-१९३८ को गांधीजी को लिखे एक पत्र में उन्होंने अपनी नाराजगी को वाणी दी। ७-५-१९३८ को गांधीजी ने उनसे पूछा, 'संघ ने ऐसा क्या किया है कि आप इतने नाराज हैं ? जो भी हो रहा है उसकी जिम्मेदारी मेरी ही है। अतः आप किस बात को लेकर नाराज हैं वह स्पष्ट रूप से बताएँ। मेरी यदि कोई गलती होगी तो मैं उसे तुरन्त ठीक कर लूंगा।' उसके बाद नेहरूजी की नाराजगी का क्या हुआ इसकी जानकारी नहीं है, परन्तु अलगे वर्ष भी संघ की भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं था। ८ मई १९३९ के 'द टाइम्स ऑव् इण्डिया' में शीर्षक था, 'गांधी सेवा संघ राजनीति में उतरेगा'। ९ मई १९३९ को 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का शीर्षक था, 'गांधी सेवा संघ के सदस्य राजनीति में जाएँगे, परन्तु

गांधीजी के सिद्धान्तों का पालन अवश्य होगा। संघकी राजकीय भूमिका को लेखर सुभाषचन्द्र बसु का विरोध अधिक मुखर उठा। ४ मई १९३९ के 'द टाइम्स ऑव् इण्डिया' ने सुभाषबाबू को उद्धृत किया, 'तर्क दिया जाता है कि फारवर्ड ब्लॉक की रचना के कारण कोंग्रेस टूटेगी और राष्ट्रीय एकता नष्ट होगी। यदि संघ के कारण ऐसा नहीं होता तो फारवर्ड ब्लॉक के कारण कैसे होगा ? गांधी सेवा संघ सुगठित एवं अनुशासनबद्ध भारत के राष्ट्रवादियों का एक मात्र राजकीय पक्ष है यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।'

२३. तेंडुलकर, 'महात्मा', खण्ड ५, पृ. ३०३, गांधी सेवा संघ को नियंत्रक समिति के रूप में सीमित कर देने के बाद भी गांधीजी के लिये संघ का महत्त्व कम नहीं हुआ था यह उनके द्वारा १२ मार्च १९४० को कृष्णदास जाजू को लिखे गये पत्र में स्पष्ट दीखता है। आधारभूत विषयों की चर्चा के लिये अभी भी संघ ही उचित स्थान है ऐसी उनकी धारणा थी। जिन चार विषयों में अनुसन्धान की आवश्यकता वे मानते थे वे थीं - (१) खादी को किस प्रकार लोकप्रिय बनाया जाए, (२) ग्रामोद्योग और अहिंसा में वास्तविक रूप से कोई सम्बन्ध है ? यदि हां, तो किस प्रकार का ? (३) ऐसे कौन से उद्योग हैं जो बिना अहिंसा के भी चल सकते हैं ? ऐसे कौन से उद्योग हैं जिनमें हिंसा अनिवार्य है ? या फिर इस प्रकार का कोई अन्तर वास्तविक रूप से है ही नहीं ? (४) क्या भारत को अहिंसा विषयक कोई वर प्राप्त हुआ है ?

३. प्रौद्योगिकी

अंग्रेजों के भारत को छोडकर जाने के बाद भारत का राज्यतन्त्र किस प्रकार चलेगा इस सम्बन्ध में भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस की कार्यसमिति में सितम्बर १९४५ में खूब चर्चा हुई। लगता है कि यह चर्चा पर्याप्त रूप से उत्तेजनापूर्ण और जलद होनी चाहिये। इस बैठक में महात्मा गांधी उपस्थित थे। अतः एक शिष्ट मर्यादा का पालन तो अवश्य हुआ होगा। परन्तु इस चर्चा के कारण गांधीजी अत्यन्त चिन्तित एवं अस्वस्थ हुए होंगे। कुछ समय बाद उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को पत्र लिखा। उसमें उन्होंने अपनी चिन्ता प्रकट की। उस पत्र में गांधीजी ने जो लिखा वह उस समय जितना उपयुक्त था उतना ही आज भी है। अतः मैं उस पत्र को विस्तार से यहां उद्धृत करने का लालच रोक नहीं सकता। गांधीजीने लिखा था,

'पहली बात तो हम दोनों के बीच जो मतभिन्नता है उसकी है। ऐसी मतभिन्नता यदि है ही तो लोगों ने उसके बारे में जानना चाहिए। उनको अनजान रखने से स्वराज्य के कार्य में बाधा आएगी। मैंने कहा है कि 'हिन्द स्वराज' में मैंने जिस राज्यपद्धति के विषय में लिखा है उसके बारे में मेरा मत पक्का है। यह केवल कहने के लिये नहीं है। सन् १९०९ में मैंने जो लिखा था वह आज मेरे अनुभव के उपरान्त सही सिद्ध हुआ है। उसमें विश्वास करनेवाला आज अगर मैं अकेला ही हूं तो भी मुझे जरा भी दुःख नहीं होगा। क्यों कि मैं जिसे सत्य मानता हूं उसीका मैं साक्षी बन सकता हूं। मेरे सम्मुख अभी 'हिन्द स्वराज' नहीं है। मैं आज उसका निरूपण मेरी अपनी भाषा में करूं यही अच्छा है। फिर वह चित्र १९०९ के चित्र जैसा है कि नहीं उसकी मुझे चिन्ता नहीं है। आपको भी नहीं होनी चाहिये। मैंने पहले जो कहा था उसे ही सत्य सिद्ध करने का मेरा आग्रह नहीं है। आज मेरी मान्यता क्या है यही जानना जरूरी है। मैं मानता हूं कि हिन्दुस्तानको, और उसके माध्यम से सारे विश्व को स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो आज नहीं तो कल उसे गांव में जाना ही पडेगा, झोंपडी में रहना ही पडेगा, महलों में नहीं।अरबों लोग शहरों में और महलों में सुख और शान्ति से नहीं रह सकते, न वे एक दूसरे की हत्या कर

के अर्थात् हिंसा और असत्य का आश्रय लेकर रह सकते हैं। बिना सत्य और अहिंसा मनुष्यजाति का नाश ही होनेवाला है उसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। सत्य और अहिंसा के दर्शन केवल गांवों में और सादगी में ही हो सकते हैं। सादगी भी चरखे में और चरखे के साथ जुडी हुई बातों में ही हो सकती है। दुनिया उल्टी दिशा में जा रही है उसका मुझे जरा भी भय नहीं है। पतंग जब नाश की ओर जा रहा होता है तब अधिक चक्कर काटता है और चक्कर काटते काटते ही जल जाता है। हो सकता है कि हिन्दुस्तान उस चक्कर से बच न पाये। तो भी मेरे जीवन की अन्तिम सांस तक हिन्दुस्तान को और दुनिया को बचाने के प्रयास करना मेरा कर्तव्य है। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को जीवननिर्वाह के लिये जिन जिन चीजों की आवश्यकता है वे उसके नियंत्रण में होनी चाहिये। ऐसा नहीं होगा तो व्यक्ति का बचना मुश्किल है। दुनिया आखिर व्यक्तियों की बनी हुई है। बिन्दु नहीं होगा तो समुद्र भी नहीं होगा। यह तो एक सामान्य उक्ति है। मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूं।

परन्तु 'हिन्द स्वराज' में मैंने यह बात नहीं कही है। मैं आधुनिक विज्ञान को मानता हूं परन्तु पुरानी बात आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखता हूं तो पुरानी बात इस नये परिधान में अच्छी लगती है। आप यदि यह समझते हैं कि मैं आज के गांवों की बात कर रहा हूं, तो आप मेरी बात नहीं समझ पाएँगे। मेरा आदर्श गांव तो अभी मेरी कल्पना में है। और मनुष्य अपनी कल्पना में ही रहता है। मेरी कल्पना का गांववासी जड नहीं होगा, पूर्ण चैतन्ययुक्त होगा। वह गंदगी में, अंधेरे में, पशु का जीवन नहीं जीएगा। स्त्री और पुरुष दोनों स्वतंत्रतापूर्वक जीएंगे, पूरी दुनिया का सामना करने हेतु सिद्ध होंगे। वहां न कॉलेरा होगा न प्लेग। चेचक भी नहीं होगा। वहां कोई आलसी नहीं रह पाएगा, न कोई एशो आराम में भी। सभी को शारीरिक परिश्रम करना पडेगा। यह सब होते हुए भी, मैं ऐसी बहुत सारी चीजों की कल्पना कर सकता हूं जिनकी व्यवस्था बडे पैमाने पर करनी पडेगी। शायद रेलवे भी होगी और डाक तार भी। क्या होगा और क्या नहीं होगा यह मैं नहीं जानता हूं। मुझे उसकी चिन्ता भी नहीं है। मैं अगर मूल बात सिद्ध कर सकता हूं तो शेष बातें समय आने पर आ ही जाएंगी। परन्तु अगर मूल बात ही छोडता हूं तो शेष सब कुछ भी छोडना ही पडेगा।'[१]

इस समग्र चर्चा के केन्द्र में एक ही विषय था : स्वराज्य की प्राप्ति के बाद भारत में विकास का स्वरूप कैसा होगा। क्या वह समस्त पश्चिमी विश्व द्वारा स्वीकृत

एवं भारत में ब्रिटिशरों द्वारा प्रस्थापित स्वरूप होगा या फिर भारत का स्वयं का, अतीत के ज्ञान पर आधारित और प्रयोगों की परिणति के रूप में पूर्णता को प्राप्त भारतीय स्वरूप ?

गांधीजी ने 'हिन्द स्वराज' में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा था कि आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति और उसके टैक्नोलोजी समेत सभी प्रकट रूप शयतान का साम्राज्य है।[२] मनुष्य को सुख, गरिमा और आत्मबोध के लिये उसका कोई उपयोग नहीं है। वह समस्त मानवीय और नैतिक मूल्यों को नकारता है और जीवन को अर्थशून्य बना देता है। १९०९ से १९४५ तक की ३६ वर्ष की अवधि में[३] उन्होंने विपुल मात्रा में लेखन किया परन्तु 'हिन्द स्वराज' में दर्ज उनके अभिमत में कोई अन्तर नहीं आया था।

'हिन्द स्वराज' में गांधीजी ने जिसका निरूपण किया था वह एक वैकल्पिक जीवनदृष्टि थी। उनका अभिप्राय था कि अंग्रेज भारत में आये और उन्होंने भारत की सभी व्यवस्थाओं एवं मूल्यों में बदल कर दिया उससे पूर्व भारतीय समाज 'अपने मन और इन्द्रियविकारों को' जीतने के लिये 'कर्तव्यपालन एवं नैतिक आचरण' का ही आलम्बन करता था। इन सिद्धान्तों पर आधारित समाज में ही व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार तक पहुंच सकता है। गांधीजी का यह भी मानना था कि बिना समाज के व्यक्ति का जीवन सम्भव नहीं है। भारत में समाज की रचना की क्या प्रक्रिया रही इसका वर्णन करते हुए गांधीजी 'हिन्द स्वराज' में लिखते हैं,

'मैं तो मानता हूं कि हिंदुस्तान ने जिस सभ्यता का नमूना दुनिया के सामने पेश किया है दुनिया की कोई भी सभ्यता उसका मुकाबला नहीं कर सकती। जो बीज हमारे पुरखों ने बोया उसकी बराबरी कर सकनेवाली कोई चीज मेरे देखने में नहीं आई। रोम मिट्टी में मिल गया। यूनान का नामभर रह गया। मिस्र के फरऊनों की बादशाही बिदा हो गई। जापान पश्चिम का चेला बन गया। चीन की कथा तो कहने ही लायक नहीं। पर हिंदुस्तान ठोकर खाकर गिर गया है, फिर भी अभी उसकी जड़ मजबूत है।

रोम और यूनान आज अवनति के गढ़े में गिरे हुए हैं, फिर भी यूरोप के लोग उन्हींकी पुस्तकों से ज्ञान लेते हैं। वे सोचते हैं कि रोम-यूनान ने जो गलतियां कीं उनसे हम बच जायंगे। जब उनकी ऐसी हीन दशा है, हिंदुस्तान अपनी जगह पर अचल है। यही उसका गौरव है। हिंदुस्तान पर यह दोष लगाया जा सकता है कि

यहां के लोग इतने असभ्य, अज्ञान और आलसी हैं कि उनसे कोई फेरफार कराया ही नहीं जा सकता। पर यह आरोप हमारा गुण है, दोष नहीं। अनुभव की कसौटी पर जिस बात को हमने ठीक पाया उसमें फेरफार क्यों करें ? हमें अकल देनेवाले तो बहुतेरे आया-जाया करते हैं, पर हिंदुस्तान अडिग रहता है। यही उसकी खूबी है, यही उसका लंगर है।'[४]

टैकनोलोजी तथा विभिन्न उद्योग धन्धों के विषय पर चर्चा करते हुए (१९०९ तक विज्ञान विषयक चर्चाओं का प्रारम्भ नहीं हुआ था) गांधीजी कहते हैं कि 'भारत को अन्य किसी से कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं है।'[५] वे कहते हैं, 'हम जितना अधिक वासना में लिप्त होते हैं उतनी ही अधिक वे निरंकुश हो जाती हैं।' इसलिये भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में मनुष्य के उपभोग पर नियन्त्रण करने को कहा गया है। भारत की आधारभूत मान्यता यह है कि 'सुख एक मानसिक अवस्था है।'[६]

'हिन्द स्वराज' में गांधीजी लिखते हैं,

'सभ्यता की इस व्याख्या के अनुसार तो हिंदुस्तान को किसी से कुछ सीखना नहीं रहता। वास्तव में है भी यही बात। अनेक अंग्रेज-लेखक भी यह बात लिख गये हैं। हम देख चुके हैं कि मनुष्य की वृत्तियां चंचल हैं, उसका मन यहां से वहां भटकता रहता है। शरीर का यह हाल है कि उसे जितना दो उतना ही और मांगता है। अधिक पाकर भी सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भोग की इच्छा बढ़ती जाती है। इसीसे हमारे पुरखों ने उसकी हद बांध दी। बहुत सोच-विचार के बाद वे इस नतीजे पर पहुंचे कि सुख-दुःख का कारण हमारा मन है। अमीर न अमीर होने के कारण सुखी होता है और न गरीब गरीब होने की वजह से दुखी होता है। अक्सर अमीर दुखी और गरीब सुखी दिखाई देता है। फिर करोडों आदमियों को तो गरीब ही रहना है। यही देखकर हमारे बुजुर्गों ने हमें भोग की वासना से मुक्त करने की कोशिश की। हजारों साल पहले जिस हल से हमने काम लिया उसीसे आजतक काम चलाते रहे। हजारों बरस पहले जैसे झोंपड़ों में हमने गुजर किया वैसे ही झोंपड़े अबतक बनाते रहे। पढ़ाई-लिखाई का भी वही हजारों बरस पहले का ढर्रा चलता रहा। सत्यानाशी प्रतियोगिता को हमने अपने पास फटकने नहीं दिया, सब अपना-अपना धंधा करते और बंधे हिसाब से पैसा लेते रहे। नये-नये कल-पुरजे बनाना न आता हो सो बात नहीं थी। पर हमारे पुरखोंने देखा कि मनुष्य यंत्रों के जाल में फंसा तो उसका गुलाम ही बन जायगा और नीति से हाथ धो बैठेगा।

इसलिए उन्होंने सोच-विचारकर कहा कि तुम्हारे हाथ-पांव से जितना हो सके उतना ही करो, हाथ-पैर से काम लेने में ही सच्चा सुख और स्वास्थ्य है।

उन्होंने यह भी सोचा कि बड़े-बड़े शहर बसाना बेकार का झंझट है। उनमें रहकर लोग सुखी न होंगे। वहां तो चोर-डाकुओं के दल जुड़ेंगे, पैसेवाले गरीबों को चूसेंगे, 'सफेद गलियां' आबाद होंगी। अतः उन्होंने छोटे-छोटे गांवो से ही संतोष किया।'[७]

टैकनोलोजी के विषय को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं,

'उन्होंने देखा कि राजाओं और उनकी तलवारों से नीति-धर्म का बल अधिक बलवान है, इसलिए उन्होंने नीतिवान् पुरुषों, ऋषि, मुनियों और साधु-संतों से राजा का दरजा छोटा माना। जिस राष्ट्र का विधान ऐसा हो वह दूसरों को सिखाने का अधिकारी है, उनसे सीखने का नहीं।

हमारे यहां अदालतें थीं, वकील थे, वैद्य-हकीम थे। पर सब को बंधे नियमों के अंदर रहना पड़ता था। सभी जानते थे कि ये धंधे कुछ दूसरे धंधों से ऊंचे नहीं हैं। फिर वकील, वैद्य आदि लोगों को लूटते नहीं थे। ये लोग तो जन-समाज पर आश्रित थे, उसके मालिक बनकर नहीं रहते थे। न्याय प्रायः सच्चा ही होता था। अदालत न जाना ही साधारण नियम था। उन्हें बहकाने के लिए दलाल भी नहीं थे। इन बुराइयों के दर्शन तो राजदरबारों और राजधानियों में ही होते थे। आम लोग तो दूसरे ढंग से रहते और अपनी खेती-किसानी करते थे। उनके लिए तो सच्चा स्व-राज्य था।'[८]

१९२० के आसपास गांधीजी हाथकताई और हाथबुनाई से बनी खादी की सिफारीश करने लगे। उनका आग्रह था कि सभी कोंग्रेसियों और भारतवासियों ने खादी का ही प्रयोग करना चाहिये। कुछ ही वर्षो में खादी स्वतन्त्रता का प्राणतन्तु वन गई। अपार वैभव में पले और मुलायम रेशमी वस्त्र ही पहनने का जिनको अभ्यास था वैसे लोग भी खादी पहनने में गर्व का अनुभव करने लगे। इस सफलता का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि केवल तीन मास के अन्दर अन्दर, अर्थात् सन् १९२१ के मध्यमें ही समग्र देशमें २० लाख चरखों का वितरण हुआ था। खादी और ग्रामोद्योग को गांधीजीने प्रमुख आर्थिक गतिविधि माना। इसे इतना महत्त्वपूर्ण मानने के पीछे विचार रहा था कि इससे देश के विशाल सामान्य जनसमाज को राष्ट्रीय जीवन के मुख्य प्रवाह में जोडा जा सकेगा। प्रारम्भ में खादी के उत्पादन एवं प्रयोग के लिये मुख्य तर्क यह था कि

यहां के लोग इतने असभ्य, अज्ञान और आलसी हैं कि उनसे कोई फेरफार कराया ही नहीं जा सकता। पर यह आरोप हमारा गुण है, दोष नहीं। अनुभव की कसौटी पर जिस बात को हमने ठीक पाया उसमें फेरफार क्यों करें ? हमें अकल देनेवाले तो बहुतेरे आया-जाया करते हैं, पर हिंदुस्तान अडिग रहता है। यही उसकी खूबी है, यही उसका लंगर है।'[४]

टैकनोलोजी तथा विभिन्न उद्योग धन्धों के विषय पर चर्चा करते हुए (१९०९ तक विज्ञान विषयक चर्चाओं का प्रारम्भ नहीं हुआ था) गांधीजी कहते हैं कि 'भारत को अन्य किसी से कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं है।'[५] वे कहते हैं, 'हम जितना अधिक वासना में लिप्त होते हैं उतनी ही अधिक वे निरंकुश हो जाती हैं।' इसलिये भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में मनुष्य के उपभोग पर नियन्त्रण करने को कहा गया है। भारत की आधारभूत मान्यता यह है कि 'सुख एक मानसिक अवस्था है।'[६]

'हिन्द स्वराज' में गांधीजी लिखते हैं,

'सभ्यता की इस व्याख्या के अनुसार तो हिंदुस्तान को किसी से कुछ सीखना नहीं रहता। वास्तव में है भी यही बात। अनेक अंग्रेज-लेखक भी यह बात लिख गये हैं। हम देख चुके हैं कि मनुष्य की वृत्तियां चंचल हैं, उसका मन यहां से वहां भटकता रहता है। शरीर का यह हाल है कि उसे जितना दो उतना ही और मांगता है। अधिक पाकर भी सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भोग की इच्छा बढ़ती जाती है। इसीसे हमारे पुरखों ने उसकी हद बांध दी। बहुत सोच-विचार के बाद वे इस नतीजे पर पहुंचे कि सुख-दुःख का कारण हमारा मन है। अमीर न अमीर होने के कारण सुखी होता है और न गरीब गरीब होने की वजह से दुखी होता है। अक्सर अमीर दुखी और गरीब सुखी दिखाई देता है। फिर करोडों आदमियों को तो गरीब ही रहना है। यही देखकर हमारे बुजुर्गो ने हमें भोग की वासना से मुक्त करने की कोशिश की। हजारों साल पहले जिस हल से हमने काम लिया उसीसे आजतक काम चलाते रहे। हजारों बरस पहले जैसे झोंपड़ों में हमने गुजर किया वैसे ही झोंपड़े अबतक बनाते रहे। पढ़ाई-लिखाई का भी वही हजारों बरस पहले का ढर्रा चलता रहा। सत्यानाशी प्रतियोगिता को हमने अपने पास फटकने नहीं दिया, सब अपना-अपना धंधा करते और बंधे हिसाब से पैसा लेते रहे। नये-नये कल-पुरजे बनाना न आता हो सो बात नहीं थी। पर हमारे पुरखोंने देखा कि मनुष्य यंत्रों के जाल में फंसा तो उसका गुलाम ही बन जायगा और नीति से हाथ धो बैठेगा।

इसलिए उन्होंने सोच-विचारकर कहा कि तुम्हारे हाथ-पांव से जितना हो सके उतना ही करो, हाथ-पैर से काम लेने में ही सच्चा सुख और स्वास्थ्य है।

उन्होंने यह भी सोचा कि वडे-वड़े शहर वसाना वेकार का झंझट है। उनमें रहकर लोग सुखी न होंगे। वहां तो चोर-डाकुओं के दल जुडेंगे, पैसेवाले गरीवों को चूसेंगे, 'सफेद गलियां' आवाद होंगी। अतः उन्होंने छोटे-छोटे गांवो से ही संतोष किया।'[७]

टैकनोलोजी के विषय को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं,

'उन्होंने देखा कि राजाओं और उनकी तलवारों से नीति-धर्म का वल अधिक वलवान है, इसलिए उन्होंने नीतिवान् पुरुषों, ऋषि, मुनियों और साधु-संतों से राजा का दरजा छोटा माना। जिस राष्ट्र का विधान ऐसा हो वह दूसरों को सिखाने का अधिकारी है, उनसे सीखने का नहीं।

हमारे यहां अदालतें थीं, वकील थे, वैद्य-हकीम थे। पर सव को वंधे नियमों के अंदर रहना पडता था। सभी जानते थे कि ये धंधे कुछ दूसरे धंधों से ऊंचे नहीं हैं। फिर वकील, वैद्य आदि लोगों को लूटते नहीं थे। ये लोग तो जन-समाज पर आश्रित थे, उसके मालिक वनकर नहीं रहते थे। न्याय प्रायः सच्चा ही होता था। अदालत न जाना ही साधारण नियम था। उन्हें वहकाने के लिए दलाल भी नहीं थे। इन बुराइयों के दर्शन तो राजदरवारों और राजधानियों में ही होते थे। आम लोग तो दूसरे ढंग से रहते और अपनी खेती-किसानी करते थे। उनके लिए तो सच्चा स्व-राज्य था।'[८]

१९२० के आसपास गांधीजी हाथकताई और हाथवुनाई से वनी खादी की सिफारीश करने लगे। उनका आग्रह था कि सभी कोंग्रेसियों और भारतवासियों ने खादी का ही प्रयोग करना चाहिये। कुछ ही वर्षो में खादी स्वतन्त्रता का प्राणतन्तु वन गई। अपार वैभव में पले और मुलायम रेशमी वस्त्र ही पहनने का जिनको अभ्यास था वैसे लोग भी खादी पहनने में गर्व का अनुभव करने लगे। इस सफलता का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि केवल तीन मास के अन्दर अन्दर, अर्थात् सन् १९२१ के मध्यमें ही समग्र देशमें २० लाख चरखों का वितरण हुआ था। खादी और ग्रामोद्योग को गांधीजीने प्रमुख आर्थिक गतिविधि माना। इसे इतना महत्त्वपूर्ण मानने के पीछे विचार रहा था कि इससे देश के विशाल सामान्य जनसमाज को राष्ट्रीय जीवन के मुख्य प्रवाह में जोडा जा सकेगा। प्रारम्भ में खादी के उत्पादन एवं प्रयोग के लिये मुख्य तर्क यह था कि

'मिल के कपडे का उपयोग करने से हमारे लोग गरीब बनते जा रहे हैं। हमारी राष्ट्रीय आय का बडा हिस्सा, वार्षिक ६० करोड रूपया कपडे की कीमत के रूप में इंग्लैंड चला जाता है। हाथकताई और हाथबुनाई बन्द होने के कारण हमारी बहनें, अच्छे अच्छे बुनकर और कपडे से जुडे हुए अन्य काम करनेवाले लोग बडी संख्या में बेकार हो गये हैं।'[९]

कुछ समय के लिये गांधीजी यह तर्क देते रहे। परन्तु १९२५ में उन्होंने पुनर्विचार किया, और कहा,

'वार्षिक ६० करोड का घाटा, या भीषण गरीबी, या बडी संख्या में बेकारी यह गंभीर प्रश्न होने पर भी दूसरे क्रमांक पर है। मुख्य प्रश्न यह है कि एक प्रजा के रूप में ब्रिटिशरों के गुलाम बन जाने के बाद हम आलसी बन गये हैं। हमने सामुदायिकता की भावना खो दी है। एक दूसरे के सहयोग से अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने की कला को भी हम भूल गये हैं।'[१०]

गांधीजी के अभिप्राय में खादी के कारण से अगणित जरूरतमन्द लोगों को आजीविका तो प्राप्त होती ही थी, साथ में देशका धन इंग्लैंड चला नहीं जाता था। तथापि खादी का और एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन लोगों को प्रमाद से उबारकर उद्यमी बनाने का था। खादी उत्पादन के विभिन्न पहलुओं से जुडे हुए लोगों को एक दूसरे के सहयोग से ही काम करना सम्भव होता था अतः समुदाय भावना को विकसित करने के लिये भी खादी का उपयोग था।

१९२० और १९३० के दशकों में हाथकताई और हाथबुनाई के कार्य में पर्याप्त गति आ गई थी। १९३४ से ही गांधीजी ने भारतीय कारीगरी और ग्रामीण उद्योगों को पुनर्जीवित करने के कार्य में अपना ध्यान केन्द्रित किया। इस हेतु उन्होंने अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की रचना की।

लगभग १८०० वर्ष तक भारत में अधिकांश प्रदेशों में लगभग एक सौ प्रकार की कारीगरी एवं उद्योगों का अस्तित्व था और वे अत्यन्त सुस्थिति में थे। परन्तु अंग्रेज सरकार की व्यापार, व्यवसाय एवं राजकीय व्यवस्था सम्बन्धी नीतियों के परिणाम स्वरूप इन उद्योगों एवं कारीगरियों की घोर अवनति हुई। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक अधिकांश पूर्णरूप से नष्ट हो गये और जो वच गये थे वे भी नष्ट हो जाने की दिशामें ही अग्रसर थे।

उद्योगों को पुनर्जीवित करने की यह वात कैसे उनके मनमें आई इस सम्वन्ध में गांधीजीने नवम्वर १९३४ में लिखा,

'मलबार में एक खादी कार्यकर के साथ अनौपचारिक वार्तालाप में मुझे लगा कि ऐसी कोई संस्था की जरूरत है जो शहर के लोगों ने ग्रामीणों से जिस विचार हीनता और क्रूरता से छीन लिया है उसे ग्रामीणों को वापस प्राप्त करवा सके। ग्रामीणों में भी सब से बडा प्रहार तो हरिजनों पर हुआ है। ग्रामीणों के लिए आज जो उद्योग बच पाये हैं उनमें हरिजनों के लिए तो बहुत कम हैं। उनके उद्योग जब छिन जाते हैं तब वे अन्यों पर बोज बनकर लद जाते हैं।'[११]

नवम्बर १९३४ के गांधी सेवा संघ के सम्मेलन में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ का उद्घाटन हुआ।[१२] उस समय गांधीजी ने जो कहा उससे समझ में आता है कि टैकनोलॉजी के प्रश्न के विषय में उनका अभिमत क्या था। उन्होंने कहा,

'परन्तु गांव के लोगों को उनकी पूर्व की स्थिति में फिर से स्थापित करना सरल नहीं है। एक संविधान बनाकर उन्हें अल्प समय में कार्यरत कर देने का विचार तो मेरे मनमें आया था। परन्तु ज्यों ज्यों मैं उसमें गहरा उतरता जाता हूं त्यों त्यों जैसे मैं बाहर होता जा रहा हूँ ऐसा ही मुझे प्रतीत होता है। एक प्रकार से खादी के कार्य से भी यह कार्य कुछ कठिन है। खादी में कोई जटिल प्रश्न नहीं है। हमें केवल यंत्र से बने विदेशी कपडे का त्याग ही करना है। उतने मात्र से खादी की प्रतिष्ठा हो जाएगी। परन्तु यह क्षेत्र इतना बडा है, और इतने विविध उद्योगों की रचना और व्यवस्था करने की जरूरत है कि उसमें हमारी सर्व प्रकार की व्यावहारिक समझ, कौशलयुक्त कारीगरी और वैज्ञानिक प्रशिक्षण की आवश्यकता पडेगी। कठोर परिश्रम, निरन्तर प्रयास और वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक कौशल का उपयोग किये बिना यह कार्य सम्भव नहीं होगा।

इसलिये मैंने कुछ डॉक्टरों और कैमिस्टों को एक प्रश्नावलि भेजकर पालिश किये हुए और बिना पालिश के चावल, गुड और चीनी का रासायणिक पृथक्करण कर उनके पोषक मूल्य बताने के लिए कहा। अधिकांश ने उत्तर भेजे परन्तु यही कहने के लिए कि अभी इस प्रकार के पृथक्करण हुए ही नहीं है। आज वैज्ञानिक गुड जैसे पदार्थ का रासायणिक पृथक्करण नहीं दे सकता है यही क्या दुःखदायक बात नहीं है ? परंतु इसका कारण यह है कि हमने गांव के मनुष्य के विषय में विचार ही नहीं किया है। शहद का ही उदाहरण लें। मुझे कहा गया है कि विदेशों में शहद का इतना सूक्ष्मतापूर्वक पृथक्करण किया जाता है कि बिना गुणवत्ता के मापदण्डों का अनुपालन किए शहद विक्री के लिए रखा ही नहीं जाता। भारत में उत्तम गुणवत्तायुक्त शहद के उत्पादन की सम्भावना तो बहुत है परन्तु आवश्यक शास्त्रीय ज्ञान नहीं है।

एक डाक्टर मित्र कहता है कि उनके अस्पताल में पालिश किए हुए चावल निषिद्ध हैं क्यों कि चूहों और अन्य प्राणियों पर किये गए प्रयोगों से पता चला है कि वे नुकसान करते हैं। परन्तु सारे डाक्टर अपने शोधों को प्रकट कर सार्वजनिक रूप से क्यों नहीं कहते हैं कि पालिश किए हुए चावल स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं।

मैंने एक दो उदाहरण देकर मेरी कठिनाई प्रस्तुत की है। मुझे कैसा संगठन चाहिए ? प्रयोगशाला में किस प्रकार का परीक्षण चाहिए ? हमें बहुत सारे ऐसे वैज्ञानिक और कैमिस्ट चाहिए जो मैंने उपर बताया उस प्रकार के परीक्षण कर उसके परिणामों को लोगों के सम्मुख रखने का काम करने हेतु समय दें। हमने परिणाम प्रदर्शित करने होंगे, उत्पादनों का परीक्षण करना होगा। हमने यह भी देखना होगा कि इनका उत्पादन करनेवाले ग्रामवासी इससे सन्तुष्ट हैं कि नहीं। हमने ऐसी भी व्यवस्था करनी पडेगी कि गांवों में पैदा होनेवाली वस्तुओं से प्रथम गांववालों की आवश्यकताएँ पूर्ण होने के बाद ही वे शहरों को प्राप्त हों।

इस हेतु हमने जिलास्तर के संगठनों की रचना करनी पडेगी। जिला भी जहां इतना बडा है कि संचालन सरलता से नहीं हो सकता वहां जिले का भी विभाजन करना पडेगा। इस प्रकार की लगभग २५० इकाइयां होंगी। प्रत्येक जिले में ऐसा एक कार्यकर रहेगा जो मुख्य केन्द्र की सूचना के अनुसार सर्वेक्षण करेगा और वृत्त तैयार करेगा। कार्यकर भी निष्ठावान और पूर्ण समय के चाहिए। इस कार्य के प्रति उनकी निष्ठा चाहिए। इतना ही नहीं तो कार्य के अनुकूल बनने के लिए अपने व्यक्तिगत जीवन में परिवर्तन करने की आवश्यकता रहेगी। इस कार्य में धन की भी आवश्यकता रहेगी परन्तु धन से भी अधिक दृढ श्रद्धायुक्त और तत्पर हाथ से युक्त मनुष्यों की आवश्यकता रहेगी।'[१३]

इस प्रकार इस प्रश्न के विषय में चर्चा करने के बाद उसके कुछ महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य पहलुओं पर उन्होंने लेख लिखे और 'हरिजन' में प्रकाशित किये। ४-१-१९३५ के प्रथम लेख में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना का क्या निहितार्थ है उसकी चर्चा की।[१४] २५-१-१९३५ के दूसरे लेख में जिनको इस कार्य में रुचि है वे किस प्रकार इस कार्यक्रम की शुरुआत कर सकते हैं उस सम्बन्ध में और विना यन्त्र के धान के छिलके हाथ से किस प्रकार निकाले जा सकते हैं उस विषय में विस्तृत मार्गदर्शन किया।[१५] १-२-१९३५ के तीसरे लेख में गेहूं पीस कर आटा बनाने और गुड बनाने के विषय में चर्चा की।[१६] ८-२-१९३५ के चौथे लेख में घरेलू और सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता विषय पर अपनी विशिष्ट शैली में

के लिये बडी चिन्ता का विषय बना। वे मानते थे कि यह ग्रामीण किसानों को प्रशिक्षित करने की योजना भर नहीं थी अपितु विद्रोह का एक साधन था।

वायसरॉय विलिंग्डन ने सेम्युअल होरे (सेक्रेटरी ऑव् स्टेट फॉर इण्डिया) को लिखा, 'यह पूरा विषय उस छोटे से गांधी की विजय का संकेत है। वे स्वयं कोंग्रेस से बाहर हो गये हैं परन्तु कोंग्रेस पर उनकी पकड अभी भी है। अब वे जिलों में सामाजिक उत्थान का अभियान चलाने के लिये उत्सुक हैं। हमने स्पष्ट रूप से समझना चाहिये कि इसके माध्यम से वे ग्रामीण जनता को राजकीय पाठ पढायेंगे ताकि वे भविष्य में हमारे विरोध में दुगुनी ताकत से उठ खडी होगी। इस वास्तविक भय से बचने के लिये सर्वतोमुखी जागृति के सभी प्रकार के प्रयास हम कर सकते हैं।'[२१]

यह तो स्वयं स्पष्ट है कि गांधीजी के अभिप्राय में टैकनोलॉजी का सीधा सम्बन्ध समाज के साथ है। १९३४ में वे जब अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की रचना के कार्य में पूर्ण रूप से व्यस्त थे तभी उन्होंने लिखा,

'गांव के लोगों के पास अगर पर्याप्त अन्न और वस्त्र होंगे तो घर में आटा पीसने की या धान के छिलके उतारने की आवश्यकता नहीं रहेगी। आर्थिक स्थिति अगर अच्छी है तो स्वास्थ्य का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है और हाथ से पीसे हुए आटे और मशीन में पीसे हुए आटे में और हाथ से या मशीन में छिलका निकाले चावल में कोई अन्तर नहीं है।'

इससे पूर्व १९२५ में उन्होंने पंजाब के एक पत्रकार को कहा था कि 'भारत की वर्तमान स्थिति को देखते हुए गांवों में विद्युत ऊर्जा का सार्वत्रिक उपयोग सर्वथा अव्यावहारिक है।' साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि 'ऐसा समय आ भी सकता है।'

१९३९ में कोंग्रेस की योजना समिति पर आधुनिकीकरण का भूत हावी हो गया था तब गांधीजी ने आधुनिक औद्योगीकरण के कार्यक्रम को यह कह कर स्थगित कर दिया कि यदि ग्रामोद्योगों को भी आधुनिक औद्योगिक विकास के समान ही प्रोत्साहन और विस्तार प्राप्त होगा 'तो निश्चित रूपसे भारत को विकास के लिये किसी भी प्रकार से विदेशी सहायता पर निर्भर नहीं होना पडेगा।' यदि निजी एवं सार्वजनिक धन का उसी के लिये उपयोग किया जाता है, यदि जीवनस्तर का एक लक्ष्य निर्धारित किया जाता है और यदि 'आधुनिक उद्योग और ग्रामोद्योगों का निश्चित समयावधि में सन्तुलन स्थापित हो जाता है' तो ही 'कोंग्रेस की आयोजन

समिति का आधुनिकीकरण की ओर का झुकाव मान्य हो सकता है'।

१९४० में डा. राम मनोहर लोहिया ने पाश्चात्य विज्ञान और टैक्नोलॉजी के उपयोग के विषय में गांधीजी का अभिप्राय पूछा। 'सक्रिय अहिंसा' नामक अपने लेख में गांधीजी ने उसका उत्तर दिया। उस लेखमें उन्होंने कहा,

'यदि में देशको अपना हम-ख्याल बना सकूं तो भावी समाजव्यवस्था मुख्यतः चरखे पर और चरखे का जो भी आशय है उसपर आधारित होगी। इसमें वह सब कुछ होगा जिससे देहात के लोगों की भलाई होती हो। पत्रलेखक द्वारा उल्लिखित उद्योग वर्जित नहीं होंगे, बशर्ते कि वे गाँवों और गाँवो के जीवनका दम न घोटें। मैं बिजली, जहाजनिर्माण, लोहाउद्योग, मशीननिर्माण आदि उद्योगों के गाँव की दस्तकारियोंके साथ साथ बने रहने की कल्पना करता ही हूं परन्तु उनमें निर्भरताका क्रम बदल जायेगा। अब तक औद्योगीकरण की योजनाएँ इस ढंगसे बनाई गई हैं जिससे कि गाँवों और गाँव की दस्तकारियों की बरबादी होती है। भावी शासनव्यवस्थामें औद्योगीकरण गाँवों और दस्तकारियों की उन्नति में सहायक होगा।

उपयुक्त समाज और उसके चलने हेतु उचित मापदण्डों के विषय में गांधीजी का निश्चित अभिप्राय था। उसके अनुसार समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये जिन व्यवस्थाओं की आवश्यकता है उसी से टैक्नोलोजी का विकास होना चाहिये। उस टैक्नोलॉजी का समाजजीवन के साथ समरस सम्बन्ध होना चाहिये। पाश्चात्य विज्ञान और टेक्नोलॉजी की प्रवृत्ति इस से ठीक उल्टी है। वह समाज से पूर्ण रूप से विमुख है, वह स्वयंसंचालित है, इतना ही नहीं तो वह राज्यतन्त्र और समाजतन्त्र को नियन्त्रित करती है। गांधीजी के अभिप्राय में धर्म, राज्यतन्त्र और रचनात्मक कार्य के समान ही व्यक्ति, समाज और टैकनोलॉजी का सम्बन्ध भी समरसता का होना चाहिये। उनका एक दूसरे से स्वतन्त्र अथवा विमुख रहना उनके लिये असहनीय कल्पना थी। उनका मानना था कि इस प्रकार की रचना हमें ऐसी स्थिति में पहुंचा देगी जिसका 'हिन्द स्वराज' में सर्वथा निषेध किया गया है। साथ ही पाश्चात्य संस्कृति की झलक तो उसमें है ही।

विगत कुछ वर्षों की घटनाओं पर दृष्टिपात करने से एक बात स्पष्ट रूप से समझ में आती है कि इन विचारों को क्रियान्वित नहीं किया गया है। इतना ही नहीं तो उनको प्रयोग कर के परखा भी नहीं गया है। इस बात को स्मरण में रखना आवश्यक है कि गांधीजी लगभग २५ वर्ष तक भारत के सर्वोच्च नेता थे तब उनके अनेक विख्यात एवं प्रतिष्ठित अनुयायियों को अन्य दबावों, प्रभावों और विचारधाराओं

के असरों में रहना होता था। उदाहरण के लिये लॉर्ड लोधियन कहते हैं कि गांधीजी ने एक बार उनसे कहा था कि कोई एक परिस्थिति में 'विनाश का रास्ता ही भारत के लिये प्रगति का रास्ता हो सकता है।'[२३] फिर भी गांधीजी के अनेक तथाकथित प्रगतिशील और वैश्विक अनुयायी इस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। और फिर ये ऐसे लोग थे जिन्हें देश की धुरा को वहन करना था। अतः उन्हें लगता था कि और भी कई बातों का ध्यान करना चाहिये। गांधीजी के पत्र के उत्तरमें अक्टूबर १९४५ में पण्डित जवाहरलाल नेहरूने लिखा,

'इस सन्दर्भ में राजकीय और आर्थिक स्वतन्त्रता और विदेशी आक्रमण से सुरक्षा ये दोनों प्रश्न विचारणीय हैं। भारत अगर तन्त्रज्ञान की दृष्टि से प्रगत नहीं है तो वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है ऐसा मेरा मानना है। मैं केवल सेना की दृष्टि से ही विचार नहीं कर रहा हूं। (मैं वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से भी विचार कर रहा हूं। वर्तमान विश्व का सन्दर्भ देखने पर लगता है कि हर क्षेत्र में वैज्ञानिक अनुसन्धान के आधार के बिना हम सांस्कृतिक दृष्टि से भी प्रगति नहीं कर सकते हैं। आज विश्व में व्यक्ति, समूह एवं संगठनों में इतने समर्थ और संग्राहक कारक दिख रहे हैं कि जिसका परिणाम संघर्ष और युद्ध ही होगा। हमारा सारा समाज कम अधिक मात्रा में इसी आधार पर खडा है। यह आधार समाप्त होना चाहिए। उसका स्थान सहयोग ने लेना चाहिये। परन्तु यह असम्भव है। इसका स्वीकार कर लेनेपर शेष विश्व से अलग होकर नहीं अपितु सब के सहयोगयुक्त अर्थव्यवस्था बनाने का प्रयास करना चाहिए। आर्थिक या राजकीय दृष्टिसे विश्व से कटा हुआ भारत इतना शून्यावकाश निर्माण करेगा जिससे अन्य देशों की संग्राहक प्रवृत्ति बढेगी और परिणामस्वरूप संघर्ष निर्माण होगा।'[२४]

इससे भी बहुत वर्ष पूर्व १९२७-२८ में जवाहरलाल नेहरूने गांधीजी को लिखा था,

'आपने कहीं पर कहा है कि हिन्दुस्तानने पश्चिम से सीखने लायक कुछ भी नहीं है। प्राचीन काल में वह ज्ञान के शिखर पर पहुंचा हुआ था। मेरी इस अभिगम से सहमति नहीं है। तथाकथित रामराज्य प्राचीन काल में अच्छा था ऐसा मैं नहीं मानता हूं। आज मुझे वह चाहिए भी नहीं। मैं मानता हूं कि पाश्चात्य, अथवा औद्योगिक संस्कृति भारत में आनेवाली ही है। अनेक परिवर्तनों और रूपान्तरणों के साथ आने पर भी वह प्रमुख रूपसे उद्योगवाद पर आधारित ही होगी।'[२५]

इसके उत्तर में गांधीजीने लिखा था,

'तुम्हारे और मेरे बीच मतभेद इतने बड़े और उग्र हैं कि हमारे लिए सहमति का कोई आधार दिखाई नहीं देता। तुम्हारी पताका फहरे, इसका एक शानदार तरीका सुझाऊँ। मुझे प्रकाशन के लिए एक पत्र लिखो, जिसमें तुम्हारे मतभेद प्रकट किये गये हों। मैं उसे 'यंग इंडिया' में छाप दूँगा और उसका संक्षिप्त उत्तर लिख दूँगा।'[२६]

परन्तु जवाहरलाल नेहरू अपने अभिप्राय को सार्वजनिक रूप में रखना नहीं चाहते थे। अतः गांधीजी ने तार सन्देश भेजा कि वे नेहरू की ओर से कुछ भी प्रकाशित नहीं करेंगे।[२७]

पण्डित जवाहरलाल नेहरू और उनके ही समान विचार रखनेवाले अन्य लोगों की मूल समस्या दूसरी ही थी। उनका व्यक्ति और समाज विषयक दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था। अतः वे महात्मा गांधी के सैनिक थे - और गांधी के थे इसलिये भारत के भी थे - तो भी गांधीजी के आधारभूत विचारों का स्वीकार करना उनके लिये सहज नहीं था। सीधे शब्दों में कहा जा सकता है कि गांधीजी को प्रत्येक जीवित व्यक्ति से सरोकार था जब कि नेहरू और उनके समविचारी लोगों को मनुष्य से भी अधिक उसके काम में रुचि थी। पाश्चात्यों के समान ही उनका भी अभिप्राय था कि अतीत में उन्होंने मानवजाति का भले ही भयानक संहार किया हो और उसके परिणाम स्वरूप कितने ही भीषण संकट पैदा हुए हों तो भी पश्चिम की यह बीसवीं शताब्दी और उससे उत्पन्न अनेकानेक बातें मनुष्य की गाथा में एक विशिष्ट घटना है। सामान्य रूप से पश्चिम की धारणा यह है कि अतीत में जो कुछ भी हुआ है वह सब वीसवीं शताब्दी के सृजन एवं वैभव, विशेष रूप से विज्ञान एवं टैकनोलॉजी की प्रस्तावना है। नेहरू की इसमें सहमति थी।

अतः स्वाभाविक रूप में ही 'हिन्द स्वराज' के विचार एवं गांधीजी की ग्रामस्वराज की संकल्पना पण्डित नेहरू को मान्य नहीं थी। इसीलिये उनकी समझ में नहीं आता था कि कोंग्रेस में इसकी चर्चा कैसे हो सकती है। वे इसकी चर्चा नहीं चाहते थे।

पण्डित नेहरू की धारणा उन्हीं के शब्दों में पढें,

'संक्षेप में कहूं तो मैं मानता हूं कि हमारे सम्मुख जो प्रश्न है वह सत्य के विरुद्ध असत्य या अहिंसा के विरुद्ध हिंसा का नहीं है। हमने यह मानकर चलना चाहिए कि हमारा लक्ष्य शान्तिपूर्ण और सहकारयुक्त पद्धतियों का होना चाहिए। हम ऐसा ही समाज चाहेंगे जो इस लक्ष्य को सिद्ध करे। कुल मिला कर प्रश्न यह है कि

इस प्रकार के समाज की रचना कैसे की जाए, और इस समाज के मूल तत्त्व कौन से होंगे। यह मेरी समझ से परे है कि गांव सत्य और अहिंसा का प्रतीक कैसे हो सकता है। सामान्य रूप में तो गांव बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे पिछडा ही होता है और ऐसे पिछडे वातावरण में कोई प्रगति सम्भव नहीं होती है। संकुचित मानसवाले लोग झूठ बोलनेवाले और अहिंसापूर्ण होने का सम्भव ही अधिक है। इससे भी बढकर पूरे देश की, प्रत्येक व्यक्ति की अन्न, वस्त्र, निवास, शिक्षा, स्वच्छता की आवश्यकता पूर्ण करने का लक्ष्य भी सिद्ध करना है। यह हम जल्दी से जल्दी कैसे करेंगे यह भी देखना है। मुझे एक बात यह भी अनिवार्य लगती है कि यातायात के आधुनिक साधन और अन्य आधुनिक विकास की पद्धतियां भी बनी रहनी चाहिए, इतना ही नहीं तो विकसित भी होनी चाहिए। और कोई रास्ता ही नहीं है। और अगर ऐसा ही है तो बडे उद्योग भी रहेंगे ही। फिर उसका ग्रामीण समाज के साथ मेल कैसे बैठेगा ? मैं व्यक्तिगत रूप से मानता हूं कि बडे या छोटे उद्योगों का यथासम्भव विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। विद्युत शक्ति के विकास के कारण यह सम्भव भी है। अब अगर दो प्रकार की अर्थव्यवस्था एक साथ अस्तित्वमें होंगी तो अनिवार्य रूप से संघर्ष पैदा होगा और दोनों एकदूसरे को परास्त करेंगे।'[२८]

'हिन्द स्वराज' के विषय में पण्डित नेहरू लिखते हैं,

'मैंने 'हिन्द स्वराज' बहुत वर्ष पूर्व पढी थी। आज मुझे उसका धुंधला स्मरण है। परन्तु बीस वर्ष पूर्व जब मैंने उसे पढी तब भी वह मुझे बहुत अवास्तविक लगी थी। उसके बाद आपके लेखों और भाषणों में आधुनिक प्रवाहों की कदर और आपनी पुरानी भूमिका में प्रगति हो रही है ऐसा मुझे लगता था। इसलिए आपने जब कहा कि पुरानी धारणा ही अभी वैसी की वैसी बनी हुई है तब मुझे बहुत आश्चर्य लगा।

आप जानते हैं कि काँग्रेस ने आपकी बात का स्वीकार नहीं किया है। क्रियान्वयन की बात तो दूर की है। आपने भी उसके स्वीकार के विषय में कुछ नहीं कहा है। आपका आग्रह भी कुछ छोटे छोटे आयामों तक ही सीमित था। अब आपने ही विचार करना है कि मूल प्रश्न और विभिन्न तात्त्विक विचारधाराओं का विचार काँग्रेसने करना कितना उचित है। मुझे तो लगता है कि काँग्रेस जैसी संस्था ने इस प्रकार की चर्चा में अपना समय और शक्ति बरबाद नहीं करनी चाहिए, क्यों कि इससे लोगों के मनमें उलझनें पैदा होंगी और उन्हें क्या करना क्या नहीं करना वह समझ में नहीं आएगा। परिणाम स्वरूप काँग्रेस और अन्य देशवासियों के बीच

अन्तर निर्माण होगा।

अन्ततोगत्वा इसी प्रकार के प्रश्नों पर स्वतंत्र भारत के जनप्रतिनिधियों ने विचार करना पडेगा। मुझे लगता है कि अधिकांश प्रश्नों पर तो हमने विचार कर लिया है और निर्णय भी कर लिया है। विगत एक पूरी पीढी में सम्पूर्ण विश्व में कैसे परिवर्तन आये हैं उसकी हमने दखल तक नहीं ली है। 'हिन्द स्वराज' को लिखे गये अडतीस वर्ष बीत चुके हैं। इन वर्षो में पूरी दुनिया बदल गई है। हो सकता है कि उसकी दिशा गलत हो। परन्तु हमने किसी भी प्रश्न पर चर्चा करते समय वर्तमान तथ्य, प्रवाह और मनुष्यों का विचार करना ही पडेगा। ऐसा नहीं करेंगे तो हम वास्तविकता से दूर हो जाएंगे।'[२९]

भारत में समाज एवं टैकनोलॉजी का प्रकार एवं भूमिका कैसी हो उसका सारांश इन दो सर्वथा भिन्न अभिगमों में दिखता है। ये दोनों अभिगम एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और एक दूसरे से विरुद्ध हैं। एक अभिगम का प्रतिनिधित्व गांधीजी कर रहे हैं, दूसरे का पण्डित नेहरू।

१९५० के बाद पण्डित नेहरू का अभिगम भारत में एक मात्र प्रभावी अभिगम बना है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इस अभिगम को अपनाने के कुछ अच्छे विधायक प्रतीत होनेवाले परिणाम भी मिले हैं। हमारी आई आई टी उसका एक उदाहरण है। भारत की इस आई.आई.टी. का बजट बहुत बडा है। फिर भी उसका परिणाम हमारी अपेक्षाओं को पूर्ण करता है ऐसा हम कह सकते हैं। तथापि देश के सामान्य जन की स्थिति देखने पर लगता है कि हमारी उपलब्धि कुछ नहीं है। हमारी इस प्रकार की अकिंचन स्थिति के कारण अनेक हैं और वे गहन चिन्तन की अपेक्षा करते हैं। हम कह सकते हैं कि जिस टैकनोलॉजी की बात गांधीजी करते थे उसका कदाचित् भारत की वर्तमान आवश्यकताओं के साथे मेल न भी हो तो भी उनका इन समस्याओं के विषय का अभिगम और निर्माण तथा सामर्थ्य के लिये भारतीय संसाधनों पर ही निर्भर रहने का आग्रह हमेशा के लिये सार्थक है।

सामान्यतः गांधीजी तानाशाह माने जाते हैं। हम भद्रलोक लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं। परन्तु गांधीजी के कारण ही देश के दुर्बल और डरे सहमे लोगों में साहस, गौरव और कुछ कर दिखाने की वृत्ति जाग्रत हुई, जब कि हम से ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता है। हमारे कारण से लोगों को तुच्छता, उपेक्षा और निकम्मेपन की अनुभूति होती है। ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के प्रश्न इससे पूर्व नहीं उठे हैं, और लोगों ने उसके विषय में विचार नहीं किया है। परन्तु हम अभी तक

उसका हल नहीं खोज पाये हैं। कहा जाता है कि जो भी नोबेल पारितोषिक विजेता हैं उन्हें यह पारितोषिक उनकी ३० वर्षकी आयु में जो सिद्धि प्राप्त की होती है उसके लिये प्राप्त होता है। हमारे सम्मुख जो समस्या है उसका हल भी कदाचित भविष्य की पीढी के युवा वैज्ञानिक और टैकनोलॉजी के तज्ञ खोज लेंगे। उनको ध्यान रहे कि यह एक राष्ट्रीय स्तर का अत्यावश्यक प्रश्न है।[१९]

सन्दर्भ

१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' खण्ड ८१, पृ. ३३१-३३३ (जवाहरलाल नेहरू के अभिप्राय में इस पत्र का दिनांक २-१०-१९४५ है।) गांधीजी का जवाहरलाल नेहरू को पत्र, ५-१०-१९४५

२. हिन्द स्वराज, पृ. ३७

३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८१

४. हिन्द स्वराज, पृ. ३४

५. हिन्द स्वराज, पृ. ३४

६ हिन्द स्वराज, पृ. ३४

७. हिन्द स्वराज, पृ. ३५

८. हिन्द स्वराज, पृ. ३६

९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १६, ह=. २७, ३१७
विदेशी कपडे के आयात से वार्षिक ६० करोड के घाटे के विषय में; अधिक अगले खण्डों में

१०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', , खण्ड २५, पृ. ७२

११. 'महात्मा', डी. जी. तेण्डुलकर, खण्ड ४, पृ. २, १९६१ का संस्करण

१२. गांधी सेवा संघ की स्थापना १९२३ में गांधीजी के विचारों के प्रसार हेतु हुई थी। अनेक मूल प्रश्नों की चर्चा व्यापक रूप में हो सके इस हेतु गांधीजी के ही मार्गदर्शन में उसे एक विशाल मंच का स्वरूप प्राप्त हुआ था। १९३४ और १९४० के बीच उसके वार्षिक सम्मेलन होते थे। ये सम्मेलन सप्ताह भर चलते थे। समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से विभिन्न प्रकार के लोग वडी संख्या में उसमें सहभागी होते थे। १९४० में गांधीजी ने संघ को अपनी गतिविधियां कम कर देने का परामर्श दिया। उसके बाद उसे एक प्रकार से अनुस्नातक स्तर के शोध केन्द्र का रूप प्राप्त हुआ।

१३. डी. जी. तेण्डुलकर, 'महात्मा', खण्ड ४, पृ. ६-७, १९६१ का संस्करण

१४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६० पृ. ४३

१५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६०, पृ. ११४-११५

१६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६०, पृ. १५४-१५५

१७. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६०, पृ. १९३-१९५

१८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६०, पृ. २५९

१९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६०, पृ. १९३-१९५

२०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६०, पृ. १९३-१९५

२१. आई ओर आर एल, एम एस एस, इ यु आर २४०/८ : विलिंग्डन का होरे को पत्र, १९-११-१९३४; आई ओ आर : एल/पी एण्ड जे/७/६६३ भारत सरकार के गृहविभाग का सभी स्थानीय सरकारों को पत्र, २३-११-१९३४, विषय, 'हाल ही के मुम्बई कॉंग्रेस के निर्णयों के परिणाम स्वरूप निर्माण होनेवाली स्थिति के विषय में'

२२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ७१, पृ. १३८-१४१, 'सक्रिय अहिंसा' सेगांव

२३. जवाहरलाल नेहरू, 'अ बंच ऑव् ओल्ड लेटर्स', लिनलिथगो का नेहरू को पत्र, ३१-१२-१९३५, पृ. १३६, १९६० का संस्करण

२४. जवाहरलाल नेहरू, नेहरू का महात्मा गांधी को पत्र, ४-१०-१९४५

२५. सं. गां, खण्ड ३५, पृ. ४८७-४८८, जवाहरलाल नेहरू का महात्मा गांधी को पत्र, ११-१-१९२८

२६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ३५, पृ. ४२४-४२६, गांधीजी का जवाहरलाल नेहरू को पत्र, १७-१-१९२८

२७. वही. गांधीजी का जवाहरलाल नेहरू को तार.

जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि भारत निश्चित रूप से पाश्चात्य संस्कृति के द्वारा जीता जायेगा। इसको उन्होंने सार्वजनिक रूप से कभी नहीं कहा। परन्तु यह उनका निश्चित मत था। गांधीजी को भेजे पत्र में उन्होंने यह लिखा भी था। उनके इस मत के कारण से ही १९४७ के वाद भारत में पश्चिमीकरण का प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में पश्चिमीकरण की गति धीमी थी परन्तु समय बीतते वह तेज हो गई। भारत का शिक्षित एवं बुद्धिमान वर्ग इस पश्चिमीकरण का माध्यम बन गया। जवाहरलाल नेहरू इसी वर्ग के थे। गांधीजी के साथ रहनेवाले अनेक लोग उस समय और वाद में भी जवाहरलाल नेहरू के इन विचारों से अवगत होंगे ही। १९४६ में भारत की कार्यकारी सरकार की रचना हुई उस समय अथवा उससे पूर्व गांधीजी अथवा अन्य किसीने इस मुद्दे को लोगों के सम्मुख रखने की आवश्यकता थी। गांधीजी ने नेहरू को प्रधानमंत्री बनने का आशीर्वाद दिया उससे पूर्व भी भारत के लोगों को नेहरूजी का सही परिचय देने की आवश्यकता थी, क्यों कि दीर्घ अवधि में भी नेहरू के विचारों में जरा भी परिवर्तन नहीं आया था, और सही स्थिति की जानकारी केवल मात्र गांधीजी को ही थी। गांधीजी का स्वयंका आग्रह रहता था कि प्रजा के प्रतिनिधि कैसे हैं वह प्रजाको जानने का पूरा अधिकार है। गांधीजी जो जानते थे वह यदि उन्होंने लोगों को बताया होता तो स्थिति कुछ और ही होती। या तो जवाहरलाल नेहरू ने सार्वजनिक रूप से अपनी गलती का स्वीकार किया होता, या फिर राजकीय जीवन से वे निवृत्त हो जाते। परन्तु गांधीजी ने ऐसा कुछ भी नहीं किया। अपनी जिन गलतियों को गांधीजी हिमालय जैसी बडी गलती कहते हैं उनमें यह गलती सिरमौर है। जवाहरलाल नेहरू के विषय में सचाई सब के

सामने नहीं लाने का गांधीजी या अन्य लोगों के लिये वास्तवमें कोई कारण नहीं था।

२८. 'सिलक्टैड वर्क्स', जवाहरलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू का महात्मा गांधीको पत्र ४-१०-१९४५

२९. वही इस तथ्य की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है कि जिस समय जवाहरलाल नेहरू का महात्मा गांधी के साथ इस प्रकार का पत्रव्यवहार चल रहा था उसी समय नेहरू का आल्बर्ट मायर नामक एक अमेरिकी के साथ भी भारत के भविष्य और गांवों की स्थिति के विषय में पत्रव्यवहार चल रहा था। १४-१-१९४६ को मायर को लिखे पत्र में गांधीजी के विचारों से असहमति पढ़ी जा सकती है।

४. भारत की मुक्ति

गांधीजी कहते थे कि मैं कभी भी समझौता करने के लिये प्रस्तुत नहीं ऐसा पाश्चात्य सभ्यता का दुश्मन हूं। तथापि भारत में आगमन के बाद जब उन्होंने अपने राजकीय जीवन का प्रारम्भ किया तब अंग्रेज शासन एवं अंग्रेज अधिकारियों के साथ उनके सम्बन्ध अत्यन्त मैत्रीपूर्ण थे। उनके मैत्रीपूर्ण सद्भाव को वायसरॉय से लेकर सामान्य अधिकारी तक सभी ने विधायक प्रतिसाद दिया। यद्यपि सद्भाव दर्शाते समय भी अंग्रेज अपना स्वामित्वभाव और औद्धत्य.दर्शाने से चूकते नहीं थे। इस प्रकार का स्वामित्वभाव लॉर्ड विलिंग्डन जैसे लोगों में अधिक दिखाई देता था। विलिंग्डन उस समय मुम्बई के गवर्नर थे। बाद में वे मद्रास के गवर्नर बने। १९३१ से १९३६ तक वे भारत के वायसरॉय रहे। बाद में इन मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की उष्मा कदाचित् कम हो गई थी। परन्तु १९१९ में स्थिति अच्छी थी। इस मैत्री से प्रेरित होकर और कुछ स्वभावगत चातुर्य के कारण से गांधीजी ने अप्रैल १९१९ में मुम्बई के गवर्नर को स्वदेशी के मसौदे पर हस्ताक्षर करने का आग्रह किया।[१] कुछ ही दिन बाद उन्होंने वायसरॉय चैम्सफर्ड को भी इस मसौदे पर हस्ताक्षर करने के लिये आग्रह किया। उन्होंने कहा, 'वायसरॉय स्वयं स्वदेशी की प्रतिज्ञा लेते हैं तो कितना अच्छा होगा !'[२] एक अन्य उदाहरण भी दिया जा सकता है। अगस्त १९१९ में गांधीजी ने गुजरात के गोधरा में स्वदेशी के विषय को लेकर महिलाओं की एक सभा का आयोजन किया। उसमें गोधरा के जिलाधीश की पत्नी उपस्थित रहीं। इतना ही नहीं तो समारोप करते हुए उन्होंने कहा कि वे स्वयं भी गृहउद्योगों का समर्थन करती हैं।[३] उसी दिन सायंकाल स्वदेशी की सभा में गांधीजी वक्ता थे और जिलाधीश अध्यक्ष। जिलाधीश ने भी लोगों को गृहउद्योगों को सुरक्षित रखने का अनुरोध किया।[४] यह भी कहा जा सकता है कि चम्पारण्य और खेडा के किसान आन्दोलनों का परिणाम त्वरित और पर्याप्त रूप से विधायक था यह भी वायसरॉय से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के कारण ही था।[५]

तथापि गांधीजी ब्रिटिश प्रशासन और प्रशासकीय अधिकारियों के निकट

सम्पर्क में आने लगे तब वे ब्रिटिशरों के विषय में निर्भ्रान्त होने लगे। ब्रिटिश रसम शयतानियत से भरी थी ऐसा तो उनका मानना था ही, और इसलिए मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध उनको अस्थिर एवं सतही भी लगे ही होंगे। तो भी मनुष्य की अच्छाई में उनका विश्वास था। उनका विश्वास यह था कि मनुष्य यदि ठान ले तो स्वयं को बदल सकता है। अतः उनका मानना था कि मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के प्रभाव से अंग्रेजों को अपनी गलती का एहसास अवश्य होगा। ऐसा तो कुछ हुआ नहीं, परन्तु उससे नुकसान भी नहीं हुआ। इतना तो हुआ कि गांधीजी स्वयं अंग्रेजों को अधिक अच्छी तरह से जान सके।

मैत्री का और समझाने का कोई असर नहीं होता है यह जब ध्यान में आ गया तब गांधीजी १९१८ में अंग्रेजों को एक झटका देना चाहते थे। २० अगस्त को अपने एक निकट अन्तेवासी को उन्होंने लिखा, 'मैं महम्मद अली को लेकर एक बडी लडाई लडना चाहता हूं। देश यदि मेरी योजना से चलता है तो अंग्रेजों को परास्त किया जा सकता है।' झटका वास्तव में बडा था, क्यों कि अंग्रेजों को लगा कि 'कभी भी एक न होने वाले हिन्दू और मुसलमान साम्राज्य के विरुद्ध लडाई में एक हो जायेंगे, गोमाता की रक्षा होगी और अहिंसा का विजयनिनाद सारे विश्व को सुनाई देगा।[६] परन्तु यह लडाई कभी हुई नहीं। इसलिये गांधीजी के मन में वास्तवमें क्या था इसका ठीक से पता नहीं चल सका। परन्तु उनको यह तो लगता ही था कि इस प्रकार की लडाई में उन्हें अग्निपरीक्षा देनी पडेगी। जिस सत्ता का विरोध अभी तक किसी भारतवासी ने नहीं किया है उसका विरोध भारतीय प्रजा ऐसे करेगी जैसे वह उसके जीवनमरण का प्रश्न है। (कुछ भारतीय इसमें नहीं जुडेंगे तो भी) प्रजा का रोष असहनीय होगा। 'परन्तु', उन्होंने कहा, 'मैं इस स्थिति का मुकाबला करने के लिये सिद्ध हूं।' इसके कुछ ही समय बाद गांधीजी १९१४-१९१८ के प्रथम विश्वयुद्ध में सैनिक के रूप में सेना में भर्ती होने के लिये प्रजा को अनुरोध करने में व्यस्त हुए दिखते हैं। परन्तु सेना में भर्ती होने के पीछे एक बहुत बडा उद्देश्य था।

चम्पारण्य और खेडा में उनका जो अनुभव रहा उससे उनका अभिप्राय यह बना कि भारतीयों को आध्यात्मिक, नैतिक एवं शारीरिक रूप से अत्यन्त पंगु बना दिया गया है। स्वामीनारायण एवं वल्लभाचार्य जैसे सन्तों ने भी पौरुष जाग्रत करने का कार्य नहीं किया है।[७] अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इतने पंगु लोगों को 'नहीं मारने कें सद्गुण का अनुभव' कराने से पूर्व अपना खोया हुआ पौरुप प्राप्त

करना सिखाना अधिक आवश्यक है।'[८] खेडा सत्याग्रह के समय उनको बार बार यही अनुभव आता रहा। उन्होंने जुलाई १९१८ में लिखा,

'यहाँ के लोगोंने अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र होने के कारण मेरे साथ निःसंकोच बातचीत की और मुझसे साफ कहा कि उन्होंने मेरा बताया उपाय इसीलिए स्वीकार किया है कि दूसरा मार्ग अख्तियार करनेकी उनमें शक्ति नहीं है। वह निःसन्देह उनकी दृष्टिमें मेरे मार्गकी अपेक्षा कहीं ज्यादा पुरुषोचित था। मुझे भय है कि चम्पारन या खेडाके लोगोंमें वह साहस नहीं है कि निर्भय होकर फांसी के तख्तेपर चढ़ जायें या गोलियोंकी बौछार झेल लें और फिर भी कह दें कि 'हम तुम्हारा लगान नहीं देंगे या 'तुम्हारे लिए काम नहीं करेंगे।' यह साहस उनमें है ही नहीं। और मेरा दृढ़ मत है कि जबतक उन्हें अपनी रक्षा करनेकी तालीम नहीं मिलती, तबतक उनमें ऐसी निर्भयता पैदा नहीं हो सकती। अहिंसाका उपदेश तो उस आदमीके लिए है, जिसके तन-मन में जीवन-शक्ति का पूरा जोश हो और जो अपने शत्रुओंके सामने सीना तानकर खड़ा हो सके। मेरे खयालसे अहिंसाको पूरी तरह समझने और अच्छी तरह पचाने के लिए शारीरिक शक्ति का पूरा विकास अनिवार्य है।'[९]

कुछ ही समय के बाद गांधीजी ने लिखा,

'मैं यह बात नहीं देख सका था कि हिंसामें अहिंसा है। वह अब देखने लगा हूँ।'[१०]

इस बात को समझने की आवश्यकता है कि गांधीजी रूढिगत मान्यताओं को वजूद नहीं देते थे। १९१९ अप्रैल में उन्होंने लिखा,

'मैं स्वीकार करता हूं कि मैं जिद्दी हूं। मैं मजाक नहीं कर रहा हूं। अनेक मित्रों ने मुझे कहा है कि दूसरों के अनुभव से सीखने की क्षमता मुझमें नहीं है। मैं स्वयं अग्नि से गुजरकर मेरे ही कटु अनुभवों से सीख सकता हूं। इस आक्षेप में अत्युक्ति तो है, परन्तु सत्य का अंश भी है। इस जिद में ही मेरी दुर्बलता भी है और ताकत भी। मुझमें अगर ऐसी हठ न होती तो मैं सत्याग्रही नहीं बन सकता था। सत्य का आग्रह अनुभव से आता है, केवल तर्क से नहीं। सत्य का आग्रह खतरे से खाली तो नहीं होता है।'[११]

उनका अभिप्राय था कि, 'चाहे कितने ही जल-बिन्दुओंका विश्लेषण करें, उनमें दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजन ही निकलेगी। तिसपर भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि पानी उन्हीं का संश्लेषण है। यह अनुमान-ज्ञान है। परन्तु यदि मैं दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजनका मिश्रण

करके पानी बनाऊँ, तो यह निश्चित ज्ञान हुआ। यह अनुभव-ज्ञान है।'[१२]

यही लोकव्यवहार के विषय में भी है। केवल निष्कर्ष पर्याप्त नहीं हैं। अनुभवसिद्ध ज्ञान भी आवश्यक है। इसीलिए १९१८ में गांधीजी को लगता था कि दुर्बल और भयभीत लोगों को प्रथम हिंसा सिखानी चाहिए, उसके माध्यम से पौरुष जागृत करना चाहिए और उसके बाद अहिंसा अपनाने के लिये कहना चाहिए।

सेनामें सैनिक के रूपमें भर्ती होने का अनुरोध करने का दूसरा कारण यह था कि यदि पांच लाख की बडी संख्या में युवक स्वेच्छा से, सोच समझकर युद्ध में जाने के लिये आगे आएँगे तो इस विषय को लेकर जिन जिनसे उनकी चर्चा हुई होगी ऐसे उनके सभी बन्धु बान्धवों, पडौसियों एवं मित्रों को मिलाकर पचास लाख के लगभग लोगों को जाग्रत करना सम्भव होगा।[१३] १९१८ अगस्त में उन्होंने कहा,

'मैं वास्तव में मानता हूं कि युद्ध में भर्ती होने के कार्य में अगर हम निष्ठापूर्वक जुडेंगे तो एक वर्ष से भी कम समय में हमें जिम्मेदार सरकार मिलेगी। हमारे गांवों के अज्ञान लोगों को बिना कुछ तालीम शामिल कर लेने के स्थान पर अगर उन्हें सैनिकी प्रशिक्षण और युद्ध का अनुभव प्राप्त होगा तो हमारे देश को अच्छे सैनिक प्राप्त होंगे जो अपने देश के लिए भी समय आने पर प्राण की बाजी लगाकर लडेंगे।'[१४]

फिर भी उन्होंने बाद में कहा कि,

'यह कार्य काफी मुश्किल था। मेरे जीवन में बहुत सी कठिन बातों के साथ मेरा पाला पडा है। उसमें यह कार्य मुझे सब से कठिन लगा था।'[१५]

१९१८ के जुलाई और अगस्त के दो मास में गांधीजी सेना में भर्ती कराने के कार्य में ही लगे हुए थे। उस समयका उनका अनुभव यह था कि खेडा के लोगों का प्रतिसाद बहुत कम था। उनके अनेक निकट के मित्रों, जो उनकी अनेक बातों में सहमति जताते थे, ने भी कहा कि सेना में स्वेच्छा भर्ती के लिये लोगों का प्रतिसाद नहीं मिलेगा।[१६] खेडा के किसान राजस्व नहीं देने के मामले में आन्दोलन छेडने के लिये तैयार थे। परन्तु सेनामें भर्ती होने के मामले में अनुत्साहपूर्ण, ठंडे और कभी कभी तो आक्रामक थे। कुछ ठोस परिणाम प्राप्त हो अथवा ठंडे प्रतिसाद से हतोत्साह होकर वे काम छोड दें उससे पूर्व तो अत्यन्त परिश्रम और अत्यन्त कुपोषण युक्त आहार के कारण से गांधीजी गम्भीर रूप से बीमार हो गये। पूरे छह मास तक वे बीमार रहे। १९१९ के जनवरी में जब उन्हें बकरी का दूध लेना स्वीकार करवाने में सफलता मिली तब उनका स्वास्थ्य ठीक होने लगा। उतने

समय में युद्ध का अन्त हो गया और अंग्रेज सेना को सिपाहियों की आवश्यकता नहीं रही।

१९२० आते आते पूरे देशने उनका अपने नेता के रूप में स्वीकार कर लिया था। भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस ने भी सत्य और अहिंसा पर आधारित अराहयोग के कार्यक्रम का स्वीकार कर लिया था। १९३१ में गांधी इरविन करार हुआ। उसके साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद को ब्रिटिश सत्ता के साथ समानता का दर्जा प्राप्त हुआ। लूई फिशर लिखते हैं कि १९२८, २९, ३० के वर्षो में अंग्रेज और भारतीय दोनों के लिये अनाकलनीय रूप में भारत के लोग मुक्ति का अनुभव करने लगे। देह तो अभी पिंजड़े में ही था, आत्मा कैद से मुक्त हो गई थी। चावी गांधीजी की घुमाई हुई थी।[१७]

२.

यह कैसे हुआ ? मूल वात तो यह थी कि भारत के लोगों ने अंग्रेजों के शासन का भले ही स्वीकार कर लिया हो, आदर्शों एवं रुचि के विषय में उनका अंग्रेजों से मेल होना सम्भव नहीं था। १९१६ फरवरी में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के समारोह में उन्होंने जो कहा उसमें भारत के लोगों के अन्तर्मन की भावनाओं का ही प्रतिघोष सुनाई पडता था। (विस्तृत वृत्त के लियें देखें पृ. ८६-८७) १९४४ के मार्च में उन्होंने लिखा कि वे जो कुछ भी कहते थे वह वही था जिसका भारत के लोग अनुभव करते थे परन्तु कह नहीं पाते थे।[१८] पारदर्शी अवलोकन और विशिष्ट अन्तर्दृष्टि के कारण गांधीजी लोगों के साथ तादात्म्य साध कर उनका अनुभव अपना अनुभव बना सकते थे।

परन्तु अन्तर्दृष्टि से प्राप्त समझ, पारदर्शी अवलोकन और स्पष्ट तथा बलवती अभिव्यक्ति मात्र से गांधीजी के नेतृत्व में इतना व्यापक एवं विशाल आन्दोलन खड़ा नहीं हो सकता था। यह बात ठीक है कि भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस गांधीजी की इच्छा का अनुसरण करने के लिये राजी थी। कोंग्रेस के रूप में गांधीजी को एक बहुत बडा मंच प्राप्त हुआ था। परन्तु १९२० तक तो कोंग्रेस एक चर्चासभा जैसी थी। उसके नेता वर्ष में एक बार मिलते थे। उस समय जो भी मुद्दा होता था उसकी चर्चा करते थे। उसका कोई संगठन भी नहीं था। उसका वार्षिक बजट भी लगभग ३०,००० रु. का ही था। उसमें आधी राशि तो इंग्लैंड जाकर उसके विचारों का प्रचार करने में ही खर्च हो जाती थी।[१९]

परन्तु १९१९ में घटित जलियांवाला काण्ड ब्रिटिश विरोधी भावना भडकाने का बहुत बडा कारण बना। उसी अरसे में आन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ घटनायें घटीं। उनमें एक थी खलीफा को पदभ्रष्ट करने का ब्रिटिशरों का निर्णय। इधर भारत के धनाढ्य एवं प्रतिष्ठाप्राप्त लोग भी गांधीजी के जादुई व्यक्तित्व से अभिभूत होकर उन्हें अवतार मानने लगे थे। गांधीजी को प्राप्त इस प्रकार की मान्यता १९२० के कोंग्रेस के नागपुर अधिवेशन में अभिव्यक्त हुई। इस अधिवेशन में प्रतिभागियों की संख्या थी १४,५८२। आज तक की संख्या में वह सब से अधिक थी।[२०] उस समय कोंग्रेस प्रमुख थे सी. विजयराघवाचारिअर। उन्होंने कहा, 'यह ऐसी कोंग्रेस है जहां नेता और प्रमुख लोगों को परिचालित करें उसके स्थान पर लोग ही नेताओं और प्रमुख को परिचालित कर रहे हैं।'[२१] 'यंग इण्डिया' में गांधीजी का अवलोकन था, 'मंच पर उपस्थित सभी महानुभावों के मन में यह स्पष्ट हो गया कि लोगोंने सूत्र अपने हाथ में ले लिये हैं। मंच ने तो उनके अनुकूल बनना था।'[२२] दीर्घ निद्रा से भारत के लोग जग उठे थे।

जनसमाज के निचले तबके से जगा यह आन्दोलन उचित व्यवस्था के बिना गतिमान नहीं बनाया जा सकता था। इस व्यवस्था की संकल्पना एवं रचना करने का काम गांधीजी ने किया। और वही उनकी प्रतिभा का निदर्शक था। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तर्दृष्टि, अवलोकन और अभिव्यक्ति के गुणों के साथ साथ रचना करने का कौशल और उसे संकल्पना का आधार प्रदान करने का सामर्थ्य भी उनमें था। इसी कारण से उनका नेतृत्व बेजोड सिद्ध हुआ। अब तक नेता लोग सूत्र संचालन करते रहे थे। १९२० के नागपुर अधिवेशन में इससे उल्टा हुआ। उसी समय कोंग्रेस के ध्येय की भी पुनर्व्याख्या हुई। भारत के लोगों द्वारा शान्तिपूर्ण ढंग से और कानून सम्मत उपायों से स्वराज्य प्राप्ति यह कोंग्रेस का ध्येय बना।[२३] उसके संविधान की ३० धाराओं में ग्रामीण से लेखर राष्ट्रीय स्तर पर कोंग्रस समिति की रचना का ढांचा किस प्रकार बनेगा उसकी रूपरेखा दी गई थी। किसी भी स्थान पर कोंग्रेस का ध्येय अपनाने वाले कम से कम पांच व्यक्तियों की समिति बन सकती थी। नया संविधान स्वीकृत होने के बाद १९२१ के जून मास तक एक करोड सदस्य बनाने का संकल्प कोंग्रेसने किया। उसी प्रकार २० लाख घरों में सुस्थिति वाले चरखे पहुंचाना भी निश्चित हुआ।[२४] इस प्रकार १९२१ के मध्य तक गांधीजी के राजकीय पहलू का आकार बन चुका था। बाद के वर्षो में आधार विस्तृत होता गया। १९३४ में कोंग्रेसने तय किया कि उसके तीन चतुर्थांश सदस्य

ग्रामीण क्षेत्र के ही होंगे।[२५]

यह राजकीय पहलू अपने आप कार्यरत नहीं हो सकता था। उसे आधार की आवश्यकता थी। उसे एक ऐसा नैतिक आधार चाहिये था जिस से एक विजित प्रजा अपनी दीनता को छोडकर विजेता के समक्ष बराबरी में खडी हो जाए। भारत के लोगों में अपनी परम्परा के विषय में गौरव का भाव जागृत करने की आवश्यकता थी। अपने मूल्य, अपने व्यवहार, अपने खुरदरे उपकरण, अपने व्यक्तिगत जीवन आदिको एक नवीन एवं मूल्यवान अर्थ प्रदान करने की आवश्यकता थी। उदाहरण के लिये चरखा अब तक गुलामी एवं शोषण का साधन था। वही चरखा १९२० के बाद स्वतन्त्रता और श्रेष्ठता का प्रतीक बन गया। खादी भारत की स्वतन्त्रता का गढ़ बन गई। इसी प्रकार से गांव की कुटिया का भी पूर्ण रूपान्तरण हो गया। गांधीजी स्वयं सेवाग्राम में कुटी में रहने लगे। ये कुटी कोई कामचलाऊ आश्रय नहीं थी। गांधीजी लगातार महिनों तक और कभी तो पूरा वर्ष उस कुटी में रहते थे।[२६] खादी की तरह कुटी भी प्रतिष्ठा का विषय बन गई। जिस कुटी में गांधीजी तथा उनके अन्तेवासी रहते थे वह वायसरॉय के निवासस्थान और विभिन्न क्षेत्रों के मांधाताओं के महलों की बराबरी में आ गई।

सन् १७५० के बाद भारत में अस्तव्यस्तता और अराजकता फैल गई थी। फिर भी नैतिक आधार और मूल्यों का मेरुदण्ड मिट नहीं गया था। अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के राक्षसी कर और अन्य सरकारी अन्याय के विरुद्ध उठे किसानों के आन्दोलनों का प्रेरणा स्थान और चालकशक्ति यह नैतिक आधार ही था।[२७] भारी आवास कर के विरोध में उठा १८१० - १८११ का वाराणसी का आन्दोलन,[२८] या १८४० में सूरत में नमक कर में की गई वृद्धि के विरोध में उठा आन्दोलन,[२९] या १८८० का गोहत्या के विरोध में उठा प्रचण्ड आन्दोलन इन मूल्यों के सामर्थ्य के आधार पर ही चले थे यह स्पष्ट था। साथ ही एक दूसरे स्तर पर ब्रह्मोसमाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द और उन्हीं के समान अन्य महापुरुषों ने व्यक्तिगत या संस्थागत रूप में भारतीय मूल्य परम्परा को जीवित रखने का कार्य किया था। समाज जब आत्यन्तिक विघटन की स्थिति में जा पहुंचा था तब भारत की परम्परा का मूल्य समझ कर उसे जीवित रखने का कार्य अनेक लोगों के द्वारा हो रहा था।

राजकीय पराधीनता के आतंक से भी बचकर भारत का नैतिक आधार अपने आप में टिका हुआ था। व्यक्तिगत रूप से मोक्षप्राप्ति की साधना और सामाजिक

रूप से उत्सवों के माध्यम से वह अभिव्यक्त हो रहा था। गांधीजी ने उसकी अभिव्यक्ति के लिये अन्य बहुत सारे रास्ते खोल दिये। इन रास्तों पर चल निकलने वाले लोग भारत की नवनिर्मिति और स्वतन्त्रता के कार्यक्रम में साम्मलित हो गये। भारत आने से पूर्व दक्षिण आफ्रिका में अन्याय और असमानता का विरोध करने के लिये यह नैतिकता कितना प्रभावी साधन है इसका अनुभव उन्होंने किया हुआ था। इस सामर्थ्य का उपयोग करने की पद्धति के विषय में 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने विस्तार से निरूपण किया है।

भारत आने के बाद बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का फरवरी १९१६ का भाषण, चम्पारण्य एवं खेडा के सत्याग्रहों का संचालन, अहमदाबाद की कपडा मिलों की हडताल आदि में उनका बहुत समय और बहुत शक्ति खर्च हुई। तथापि भारतीयों के नैतिक आधार और मूल्यों की अगणित अभिव्यक्तियों को सामर्थ्य प्रदान कर हिन्द स्वराज की प्राप्ति के मुख्य लक्ष्य की दिशामें उनको मोडने पर ही उनका ध्यान केन्द्रित हुआ था। उनके व्यक्तित्व का जादू और उनका नैतिक प्रभाव इतना अधिक था कि व्यक्ति एवं परिवार उनकी ओर खींचते चले आये। अनेक व्यक्ति स्वराज के लक्ष्य के प्रति सहानुभूति रखने के बाद भी अन्य कारणों से प्रेरित होकर उनके पास आये। उनके प्रयोजन और उनके मार्ग भिन्न होने पर भी उनका समर्पण और सामर्थ्य देखकर गांधीजीने उनका उतनी ही आत्मीयता से स्वागत किया जितना स्वराज्य के लक्ष्य से प्रेरित होकर आनेवालों का। जैसे ही गांधीजी ने उनका स्वीकार किया वे सब उनके मूल्यों के वाहक, तपश्चर्यापूर्ण एवं समर्पित जीवन के प्रतिनिधि और रचनात्मक कार्यक्रम तथा उन कार्यक्रमों को परिचालित करने हेतु निर्मित संस्थाओं की धुरी बन गये। समय के प्रवाह के साथ वे पूरे देश में फैल गये और शरीर में जिस प्रकार से चेतातन्तु कार्यरत होते हैं उसी प्रकार से पूरे देशकी चेतना के वाहक बन गये।

नैतिक मूल्य गांधीजी के आश्रम के व्रत बन गये, तपश्चर्या का आधार बन गये, दैनन्दिन आचार के नियम बन गये और अधिक ठोस स्वरूप धारण कर रचनात्मक कार्यक्रम बन गये। इनके अधिकांश मूल्य तो भारत की परम्परा और आचार में समाये हुए ही थे। जिनकी कमी लग रही थी उनको अपनी आधारभूत नैतिक संकल्पना से अनुकूल रूप प्रदान कर साथ में जोड दिये। जिनका आदर्श गांधीजी ही थे ऐसे हजारों कार्यकर्ताओं ने हजारों संस्थाओं में इन मूल्यों को अपना लिया।

इन व्रतों का, शारीरिक श्रम के आग्रह का, प्रार्थना का, रचनात्मक कार्यक्रम का स्वयं में अपना मूल्य था, परन्तु तीस वर्षो तक के उनके निरन्तर पालन, उसके अभ्यास एवं परिष्कृति के कारण से उनका सामर्थ्य बढ गया और वे लक्ष्यसिद्धि का महत्त्वपूर्ण साधन बन गये। हिन्दुओं के प्राचीन संन्यासी, बौद्धों के भिख्खु और मध्यकालीन यूरोपीय ईसाई सम्प्रदाय के साधुओं के व्रतों एवं नियमों से आश्रम के ये व्रत और नियम जरा भी कम नहीं थे। गांधीजी का उद्देश्य इन सम्प्रदायों से भी अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण था। इस कारण से तो इनका महत्त्व और भी अधिक था। उनके चारों ओर सैंकडों की संख्या में एकत्रित होनेवाले असंगठित एवं सहमे हुए लोगों को ये व्रत अनुशासन में बांधते थे। इसके परिणाम स्वरूप एक ऐसा संस्थागत ढांचा तैयार हुआ जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार की रुचि रखने वाले लोगों का समावेश हो सका, लोगों को प्रयोजन पूर्ण काम मिला और आनेवाली कठोर परिस्थिति का मुकाबला करने हेतु लोग समर्थ बने।

३.

गांधीजी जिसके लिये जीते थे और जिसे सिद्ध करने के लिये प्रयासरत थे वह सब, जैसे ही स्वतन्त्रता समीप आती दिखने लगी, छोड दिया जाने लगा। यह सब छूट जाए इस हेतु प्रमुख भूमिका स्वाभाविक रूप से ही ब्रिटिशरों की रही। उनमें भी जो रूढिवादी थे उन्होंने तो खास कुछ नहीं किया। परन्तु जो उदारमतवादी और समाजवादी थे उन्होंने किया। वे मानते थे कि अंग्रेजी शासन भारत के लिये आशीर्वाद रूप है। अतः ब्रिटिशरों के द्वारा निर्मित ढांचों एवं संस्थाओं की सुरक्षा बनाये रखना तथा उनको आगे चलाना अंग्रेजों का नैतिक कर्तव्य है। इसे बनाये रखने के लिये व्यूहात्मक नीति निर्धारित करने का काम ऐसे लोगों को दिया गया जो बहुत कुशल थे। अतः भारत से ब्रिटिश शासन को वापस लेने के लिये भी वही नीति अपनाई गई जो १७५० के अरसे में बंगाल एवं दक्षिण भारत में ब्रिटिश शासन लागू करने के लिये अपनाई गई। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में जो हुआ उसी का पुनरावर्तन दो सौ वर्ष के बाद बीसवीं शताब्दी के मध्यमें हुआ। १९४६ और १९४७ में भी भारत के लोगों को संभ्रमपूर्ण स्थिति में ही रखा गया। आगे क्या होनेवाला है उसकी किसी को भी जानकारी नहीं होने के कारण से भारत के लोग स्वतः कुछ भी नहीं कर सकते थे। १९१३ फरवरी से ले कर २५ वर्ष की पीडादायक प्रतीक्षा के बाद अन्त में कोंग्रेस में इतने तीव्र विसंवाद होने के बाद भी गांधीजीने

लडाई के सूत्र अपने हाथ में ले लिये। अब अंग्रेज अनुमान करने लगे और गांधीजी अपनी शर्ते रखने लगे।

परन्तु अंग्रेजों से भी अधिक गांधीजी के सामाजिक एवं राजकीय विचारों का विरोध करनेवाला वर्ग तो भारत का ही पश्चिमीकृत शिक्षित समुदाय था। संस्कृत का अध्ययन किये हुए और भारतीय दीखने वाले लोगों को भी समाज और उसके आन्तरसम्बन्धों की कल्पना समझमें भी नहीं आती थी और यदि आती थी तो स्वीकार्य नहीं होती थी। वे गांधीजी के प्रति इसलिये आकर्षित हुए थे कि उनको लगता था कि गांधीजी उन्हें मोक्ष प्राप्त करने में सहायता करेंगे। बीस वर्ष के बाद भी वे उनके तर्क और विचारों का स्वीकार नहीं कर सके। परन्तु भारत के जनसामान्य के साथ उनका तादात्म्य देखकर वे दिग्मूढ हो गये। अपनी कल्पना में वे गांधीजी को ईश्वर का अवतार मानने लगे। गांधीजी इस प्रकार की अंध भक्ति को बर्दाश्त करते थे कि नहीं, अथवा इस भक्ति का उपयोग गांधीजी से सर्वथा विरुद्ध प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिये होता था कि नहीं यह दूसरा प्रश्न है। प्रमुख बात यह है कि इस प्रकार की स्थिति के कारण से भारत का स्वतन्त्रता आन्दोलन एक ही व्यक्ति के नेतृत्वमें चला गया और शेष लोगों के लिये वह तात्कालिक उद्देश्यों को सिद्ध करने का साधन बन गया। स्थिति ऐसी बन गई कि आन्दोलन में प्रारम्भ से ही एक दूसरे के विरोधी कारक पैदा हुए जिसके परिणाम स्वरूप देश के शिक्षित और बुद्धिमान लोग पश्चिम के अथवा मार्क्सवाद के रास्ते पर चले गये।

१९३८ में कोंग्रेसने जिस राष्ट्रीय आयोजन समिति की रचना की थी उसके संविधान में पाश्चात्य मार्ग का मोह बहुत दिखाई देता है। इस मुख्य समिति के अथवा उसकी उपसमितियों के सदस्य पद में ही नहीं तो समितियों की कार्यवाही और वृत्तान्तों में भी पाश्चात्य विचारधारा का अनुसरण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उससे जरा कम परन्तु इसी प्रकार का पाश्चात्य प्रभाव गांधी सेवा संघ की कार्यवाही में भी दिखता है। गांधी सेवा संघ के नेता स्वयं जिस अलौकिक विश्व को प्रेम करते थे और मानसिक रूप से जिस विश्व में रहते थे उसको छोडकर भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति और समस्याओं को समझने के लिये प्रस्तुत नहीं हुए। उनका वैसा आशय नहीं होने पर भी मोक्ष और ब्रह्मविद्या के लिये लालायित गांधीजी के एकनिष्ठ अनुयायी वर्तमान भारत के लिये आवश्यक राज्यतन्त्र एवं समाजतन्त्र की रचना में बहुत बडा अवरोध बन गये। इतना ही नहीं तो जो लोग भारत का पाश्चात्यीकरण चाहते थे उनके अप्रत्यक्ष रूप से सहायक बन गये। यहां तक कि जिनकी गांधीजी

के ग्रामोद्योग और नई तालीम के विचारों से सहमति थी वे भी पाश्चात्य शिक्षा के एवं उससे प्राप्त विचारों के प्रभाव से अपने आप को मुक्त नहीं कर सके। कहने को तो वे गांधीजी के भक्त ही थे परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में भी वे गांधीजी के विचारों का क्रियान्वयन नहीं कर सके। इन लोगों के विचार में पूंजीवाद को समाप्त कर राज्य की सत्ता प्रस्थापित करनेवाला आधुनिकीकरण आवकार्य ही लगता था।

गांधीजी के अनुयायी उनके राज्यतन्त्र एवं समाजतन्त्र विषयक विचारों के साथ सहमत नहीं थे इसलिये उन्होंने उनकी उपेक्षा की। परन्तु बात यहां समाप्त नहीं होती। यह बात भी सत्य है कि कोंग्रेस में जो लोग अधिकार पदों पर थे वे भी स्वीकार करते थे कि देशविभाजन का प्रस्ताव गांधीजी की इच्छा एवं सहमति के विरुद्ध ही स्वीकार किया गया था। उनको लगता था कि इस प्रस्ताव का स्वीकार नहीं किया जायेगा तो अनवस्था व्याप्त होगी और स्वतन्त्रता प्राप्ति में विलम्ब होगा। इसके अलावा कोंग्रेस में जो कर्ताधर्ता थे वे भी जैसे ही सत्ता प्राप्ति के संकेत मिलने लगे तब कोंग्रेस की पुनर्रचना के विषय में गांधीजी से अलग विचार रखने लगे। गांधीजी का सुझाव था कि कोंग्रेस का स्वरूप एवं नाम बदलकर उसे लोक सेवक संघ में परिवर्तित करना चाहिये। सन् १९४६ में उन्होंने सुझाव दिया था कि स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक भारतवासी अपने आप कोंग्रेस अथवा लोक सेवक संघ का प्राथमिक सदस्य माना जायेगा। कोंग्रेस के नेताओं को यह मान्य नहीं था। धीरे धीरे सत्ता प्राप्त करनेवाले कोंग्रेसी लोगों का खादी, ग्रामोद्योग, शराबबंदी, गोहत्याबंदी, नई तालीम आदि विषयों में आग्रह शिथिल पडता गया। यद्यपि सार्वत्रिक अभिप्राय गोहत्याबंधी के अनुकूल था तो भी केन्द्र सरकार का आग्रह शिथिल था। सर्वाधिक विरोध तो यह था कि गांधीजी का समाजतन्त्र एवं राज्यतन्त्र विषयक विचार उनको मान्य ही नहीं था। कहने के लिये या दिखावे के लिये सरकार गरीब एवं पिछडे लोगों के लिये प्रयासरत थी परन्तु वास्तविक रूप में सरकार की समग्र कार्यप्रणाली में मनुष्य का मूल्य निःशेष हो गया था। स्वतन्त्र भारत की सरकारने ब्रिटिश सरकार की विरासत पूर्ण रूप से स्वीकार कर ली थी। सरकार में आसीन लोगों पर ब्रिटिशरों का इतना एवं इस प्रकार का प्रभाव था कि इस विरासत का ही उन्हें गर्व था। प्रशासन एवं विकास की असीम संख्याकीय जंजाल में मनुष्य एक संख्या गिनने हेतु मस्तक भर रह गया था। देश स्वतन्त्र होते ही मनुष्य का गौरव बढ जायेगा और वह स्वाधीनता प्राप्त करेगा यह अपेक्षा स्वतन्त्रता से पूर्व में की जाती थी। वैसा विश्वास भी जगा था। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की अवस्था सर्वथा विपरीत थी।

समय के बीतने के साथ केवल गौरव और स्वाधीनता ही नष्ट नहीं हुए। मनुष्य अपने मानवीय और प्राकृतिक परिवेश से भी बिछड गया।

जिस समाजतन्त्र और राज्यतन्त्र को गांधीजी चाहते थे, और जो इस देशका इतिहासतन्त्र था उसे किनारे कर दिया गया। उसके स्थान पर यूरोपीय तन्त्र प्रस्थापित हो गया। इस यूरोपीय तन्त्र में सत्ता, संसाधन एवं निर्णय का अधिकार केवल ऊपर ही था। कोई तर्क कर सकता है कि बीसवीं शताब्दी का राज्यतन्त्र सामान्य लोगों की दरकार नहीं करता है ऐसा तो नहीं है। आज हम यह भी जानते हैं कि यूरोप के कई समाजों में सम्पूर्ण विश्व के संसाधनों पर अधिकार प्राप्त हो जाने के परिणाम स्वरूप सामान्य लोगों की चिन्ता भी हो रही है ऐसा लगता है। परन्तु यह बहुत सतही बात है। उसके मर्म में तो अत्याचार एवं आधिपत्य ही हैं। आज विज्ञान, टैकनोलॉजी, तत्त्वज्ञान, राजकीय विचारधारा, आर्थिक ढांचा - जिस किसी भी क्षेत्र में यूरोप में शोध हुए हैं उनका हार्द तो वही है। यहां यूरोप का अर्थ है यूरोपीय सभ्यता जहां अपनाई गई है ऐसे देश। ये पूंजीवादी हो सकते हैं, समाजवादी लोकतान्त्रिक हो सकते हैं या मार्क्सवादी भी हो सकते हैं; या वे अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, आफ्रिका, यूरोप या एशिया में कहीं पर भी हो सकते हैं। उसके राज्यतन्त्र के प्रकार और उनकी भौगोलिक स्थिति से कोई अन्तर नहीं पडता।

गत चार सौ पांच सौ वर्षो में पश्चिम इस बात को जानबूझ कर प्रचारित कर रहा है कि पश्चिमी समाज के संस्थागत ढांचे और विज्ञान तथा टैकनोलॉजी के अभिगम, आकांक्षा और क्षमताओं में आन्तरिक अविनाभाव सम्बन्ध है। इसे एक शाश्वत नियम के रूप में प्रस्थापित करने का वह प्रयास भी करता है। उसका कहना है कि सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होकर जिस प्रकार की वैज्ञानिक प्रणालियों का विकास पश्चिम में हुआ है, और गत एक सौ वर्षो में टैकनोलॉजी के क्षेत्र में जिस गति और व्यापकता से नये नये आविष्कार हो रहे हैं उसका गत दो हजार वर्षो में जिस प्रकार के समाजतन्त्र की रचना पश्चिम कर रहा है उसके साथ सीधा सम्बन्ध है। परन्तु यह तो सोच समझकर गढी गई बातें हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तों और टैकनोलॉजी के नये नये आविष्कारों के लिये पश्चिमी समाजतन्त्र और राज्यतन्त्र ही अनुकूल हैं यह तो यूरोप का आपने आपको सर्वोपरि रूप से प्रस्थापित कर देने का प्रयास भर है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। भारत में और अन्यत्र प्राचीनकाल से यह मान्यता रही है कि जीवन से ही जीवन का पोषण होता है - जीवो जीवस्य जीवनम्। अतः जीवन की अन्तः प्रक्रिया में किसी न किसी रूप में

हिंसा निहित है ही। परन्तु पश्चिमने उसी को लेकर 'योग्यतम का अस्तित्व' (Survival of the fittest) का सिद्धान्त गढ लिया और संघर्ष और शोषण को मान्यता दे दी।

पश्चिम सम्पूर्ण विश्व का राजकीय, भौतिक और अपनी विचारधारा के अनुसार नैतिक नेतृत्व चाहता है। अतः वह इस प्रकार की भ्रान्ति का प्रचार करता है। उसके लिये यह स्वाभाविक है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पश्चिम की वैज्ञानिक प्रणाली को समझना, उसे हस्तगत करना, उसे विकसित करना और उसमें हमारे लिये क्या उपयोगी हो सकता है इसका विचार करना अपेक्षाकृत सरल है। परन्तु विश्व के अन्य समाजों को पश्चिम के मापदण्डों एवं ढांचे में गढना सरल नहीं है। हमारे जैसा समाज पश्चिम की विचारधारा के अधीन होगा तो नष्टभ्रष्ट हो जायेगा और परिणामतः विज्ञान और टेकनोलॉजी में भी वह पश्चिम की तुलनामें पीछे ही रहेगा। भिन्न भिन्न समाज एक दूसरे से बहुत कुछ सीख सकते हैं, कुछ बातों का स्वीकार भी कर सकते हैं। अतीत में हमने इस प्रकार का आदान प्रदान किया भी है। परन्तु एक समाज दूसरे समाज को पूर्ण रूप से अपने ही जैसा नहीं बना सकता है। ऐसा करने के लिये तो उसे नष्ट करना पडेगा। भारत का दुर्भाग्य यह है कि आत्मविश्वासहीन और आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक धरातल से च्युत शिक्षितों और बौद्धिकों के कारण से भारत आधुनिक पश्चिम की गलत, क्षुद्र और आधार हीन भ्रान्ति का शिकार बन गया है। जैसी भारत की स्थिति है कै उसी प्रकार की स्थिति एशिया और आफ्रिका के कुछ अन्य देशों की भी है। पश्चिम की बराबरी कर लेने की, अथवा 'विकसित' पश्चिम और 'पिछडे' भारत के बीच की ३०० वर्षो पुरानी खाई पाटने की चर्चा कर रहे हैं वे ही केवल पश्चिम के शिकार नहीं हैं। पश्चिम के वैज्ञानिक विचार और टैकनोलोजी के नये नये आविष्कारों की उपेक्षा कर के जो भारत को पश्चिम के विष से बचाना चाहते हैं वे भी पश्चिम का शिकार बन गये हैं। इन लोगों की निष्क्रियता के कारण से पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को किसी प्रकार की स्पर्धा या चुनौती का सामना नहीं करना पड रहा है। इससे तो भारत को और अधिक नुकसान हो रहा है।

महात्मा गांधी ही एक मात्र ख्यात भारतीय हैं जिन्होंने पश्चिमी सभ्यता के इस लक्षण को ठीक प्रकार से पहचान लिया था। इस चुनौती का सामना करने की पद्धति भी वे जानते थे। १९वीं और २० वीं शताब्दी में आध्यात्मिक दृष्टि से गांधीजी से भी अधिक ऊँचे लोग थे, परन्तु अंग्रेजों के शासन के परिणाम स्वरूप

निर्मित हो गई गम्भीर चुनौतियों का सही स्वरूप उनकी समझ में नहीं आया। गांधीजी ही वह समझ प्राप्त कर सके। अतः गांधीजी का प्रथम कार्य तो भारत के राज्यतन्त्र और समाजतन्त्र को भारतीय प्रतिभा और स्वभाव के अनुरूप पुनर्गठित करने का था। विदेशी शासन काल में उसका विघटन हो कर वह विकृत बन गया था। व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित पारम्परिक ज्ञानपद्धति को वर्तमान आवश्यकताओं एवं सन्दर्भो के अनुरूप ढालने का, अतीत के अनुभवों के आधार पर उनमें सुधार करने का अथवा अन्य पद्धतियों से आवश्यक एवं उपयोगी बातें सीखने का या उन्हें अपनाने का उन्होंने विरोध नहीं किया है। भारत के अस्तित्व के लिये या भारत के सुख के लिये यदि पाश्चात्य औद्योगीकरण उन्हें श्रेयस्कर लगता तो उन्होंने उसका अवश्य स्वीकार किया होता। परन्तु उसका उपयोग करने के लिये आवश्यक और अनुकूल व्यवस्था उन्होंने प्रथम निर्माण की होती। बिना भारतीय मूल्यों की समग्रता को हानि पहुंचाये और बिना समाज और शासन का सन्तुलन बिगाडे यदि आधुनिक उद्योगों की स्वीकृति सम्भव हो सकती है तो वह होनी चाहिये ऐसा उनका मत था।

गांधीजी ऐसा समाज नहीं चाहते थे जो त्वरा और विकास के पीछे पागल हो गया हो, या जिसने प्रकृति को दासी बनाने की राक्षसी योजना बनाई हो। साथ ही वे ऐसा भी समाज नहीं चाहते थे जो जरा भी परिवर्तनशील न हो। समाज का वांछनीय स्वरूप वह है जहां राज्यतन्त्र एवं समाजतन्त्र का अधिष्ठान आध्यात्मिक है, उसके विभिन्न पहलुओं में अंगांगीभाव है (जैसा सौरमण्डल में या स्वयं प्रकृति में है) और जहां कोई भी परिवर्तन बिना समग्र का सन्तुलन बिगाडे होता है। सेवाग्राम आश्रम में या किसी भी समाज के जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के सम्बन्धमें उपभोग और आचरण के जो भी व्रत, नियम या मर्यादा की बात वे कहते थे वह तपश्चर्या नहीं थी। या फिर स्वतंत्र भारत के लिये स्वैच्छिक दारिद्र्य की प्रतिज्ञा भी नहीं थी। उनका दृढ विश्वास था कि समाज की सर्व प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी ही चाहिये, परन्तु उसके लिये संयम और स्वावलम्बन को छोडना नहीं चाहिये। वैयक्तिक स्वाधीनता और समाज की अंगभूत इकाई का भाव - इन दोनों का समायोजन होना चाहिये।

गांधीजी के जाने के बाद इससे बिल्कुल उल्टा हुआ है। विज्ञान, टैकनोलॉजी, प्रशासन, शासन आदि क्षेत्रों में प्रतिभाएँ पैदा हुई हैं। परन्तु वे हमेशा स्वकेन्द्री रही हैं। भारत के जनसामान्य की कठिनाई तो बढती ही रही है। विश्व के जो मांधाता

माने जाते हैं उनकी दया पर देश जी रहा है।

स्वतन्त्रता प्राप्त हुई उस समय हमने जो रास्ता चुना वह यहीं पहुंचता है। यह सम्भव है कि १९४० के दशक में हम जिस स्थितिमें आ पडे थे उसमें भी कदाचित् यही परिणाम निहित था। उस समय बिना सोचे समझे मार्क्सवाद की तोतारटन्त करने वाले, पूर्णरूप से पाश्चात्य रंग में रंग गये बौद्धि कों की चपेट में देश आ गया था। सन् १७५० से जिस प्रकार का शासनतन्त्र ब्रिटिशरों ने प्रस्थापित करना शुरू किया था उसे ही अपना लिया गया था। वर्तमान स्थिति उसीका स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। परन्तु अब, जब गुलामी की तन्द्रा और स्वतन्त्रता आन्दोलन का झुनून तथा उस समय के वीर नायकों की प्रेरणा अतीत की बात बन गई है, तव हमने नया रास्ता बनाने की आवश्यकता है। वह हमारे लिये असम्भव नहीं है। इस नये मार्ग का प्रारम्भ नीचे से करना पडेगा। निचले स्तर पर समाजतन्त्र और राज्यतन्त्र में गौरव और स्वतन्त्रता की स्थापना करनी पडेगी। समाज के विभिन्न वर्गों में और विभिन्न समाजों में एकता और संवादिता बनानी पडेगी और विश्व के देशों की वराबरी में खडे होने के लिये हमारे ज्ञान के आधार को सुदृढ बनाना पडेगा।

सन्दर्भ

१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' खण्ड १५, पृ. २५३, मुम्बई के गवर्नर के निजी सचिव को लिखा पत्र, ३०-४-१९१९

२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' खण्ड १५, पृ. २६४-५, वायसरॉय के निजी सचिव को लिखा पत्र, ५-५-१९१९

३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १६, पृ. ४८-५१, बैठक का वृत्त, 'यंग इण्डिया' २०-८-१९१९

४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १६, पृ. ४८-५१, बैठक का वृत्त, 'यंग इण्डिया' २०-८-१९१९

५. गांधीजी और दिल्ली सरकार के मैत्री पूर्ण सम्बन्ध तथा खेडा और चम्पारण्य के सत्याग्रह के प्रति सरकार के अनुकूल अभिगम की तुलना वर्तमान के पर्यावरणवादियों के आन्दोलन के प्रति केन्द्र सरकार के अभिगम के साथ की जा सकती है। इस आन्दोलन के साथ केन्द्र सरकार नरम व्यवहार करती है परन्तु राज्य सरकारों का व्यवहार कठोर होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बिहार अथवा मुम्बई सरकार से अलग वायसरॉय चेम्सफर्ड चम्पारण और खेडा के लोगों का हित अधिक चाहते थे। इसका तात्पर्य इतना ही है कि वायसरॉय की सोच का सन्दर्भ अधिक व्यापक था, और उसे लगता था कि उसके गांधीजी के साथ

अच्छे सम्बन्ध रहेंगे तो चम्पारम्य और खेडा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बातों में उनका सहयोग प्राप्त हो सकेगा। वर्तमान केन्द्र सरकार की सोच भी इसी प्रकार की है।

६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. १३४-५, मगनलाल गांधी को पत्र, २०-१-१९१८
७. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ४४९-५०, मगनलाल गांधी को पत्र, २५-७-१९१८
८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ४१०-१, एस्थर फेरिंग को पत्र, ३०-६-१९१८
९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ४२१-२५, चार्ली एण्ड्रयूझ को पत्र, ६-७-१९१८
१०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ४४९-५०, मगनलाल गांधी को पत्र, २५-७-१९१८
११. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, स्वामी श्रद्धान्द को पत्र, १७-१-१९१९
१२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ३९७-८, देवदास गांधी को पत्र, २३-६-१९१८
१३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४
१४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. १४-५, सुरेन्द्रनाथ बैनजी को पत्र, १०-१-१९१८
१५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ४२०, वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री को पत्र, ५-७-१९१८
१६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ३८४-५, नडियाद में भाषण, १७-६-१९१८
१७. लूई फिशर, 'दि लाइफ ऑव् महात्मा गांधी,' खण्ड १, पृ. २४४, भारतीय विद्याभवन, १९६५
१८. सुशीला नायर, 'बापू की कारावास की कहानी', गांधीजी की टिप्पणी, पृ. ४१४, १०-३-१९४४ (१९५० में प्रकाशित)
१९. भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस, १९१९ से १९२२ के विषय में डा. गोपाल कृष्ण के प्रबन्ध में इस प्रकार की अन्य सामग्री भी उपलब्ध है। (ऑफ्सफर्ड युनिवर्सिटी, १९६१)
२०. पट्टाभि सीतारामैया, 'दि हिस्ट्री ऑव दि इण्डियन नैशनल कोंग्रेस,' खण्ड १ (१८८५ - १९३५), पृ. २०६
२१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १९, पृ. १७५-६, 'यंग इण्डिया' में लेख, ५-१-१९२१
२२. वही
२३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १९, पृ. भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस के संविधान का मुसद्दा, १९२०
२४. पट्टाभि सीतारामैय्या, 'दि हिस्ट्री ऑव् इण्डियन नैशनल कोंग्रेस' खण्ड १, पृ. २१४
२५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ५९, १९३६ से १९४२ के दौरान
२६. १९३६ से १९४२ के दौरान सेवाग्राम आश्रम में गांधीजी का निवास इस प्रकार था - १४-६- से २३-१०-१९३६, ४-११ से १९-१२-१९३६, २४-१ से १४-३-१९३७, ११-६ से २५-१०-१९३७, २१-५ से १९-९-१९३८, ११-११-१९३८ से १-१-

१९३९, १-१२-१९३९ से ३-२-१९४०, २२-३-१९४० से २७-६-१९४०, ८-७ से ११-९-१९४०, २-१०-१९४० से २६-२-१९४१, २-३-१९४१ से ९-१२-१९४१, १-६ से २-८-१९४२ (सी. बी. दलाल, 'गांधी : १९१५-१९४८ : विस्तृत दिनक्रम, १९७१)

२७. ब्रिटिश अत्याचार के विरुद्ध प्रथम ख्यात आन्दोलन रंगपुर (वर्तमान बांग्लादेश मे) में १७८१-८२ में हुआ। तब से लेकर ५०-६० वर्षो में देश के अन्यान्य भागों में इस प्रकार के आन्दोलन होते रहे। बंगाल, मुम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सी के न्यायिक एवं राजस्व विभाग के अभिलेखों में इसके विस्तृत वृत्तान्त प्राप्त होते हैं। बंगाल और मुम्बई में तो १९वीं शताब्दी के उत्तरार्धमें भी इस प्रकार के आन्दोलन हुए थे।

२८. धर्मपाल, 'भारतीय परम्परा में असहयोग', पुनरुत्थान २००७, बिहार और वाराणसी के आन्दोलन

२९. आई ओ आर, बोर्ड का संकलन, खण्ड २०७२-७३, सुरत में दंगा, १८४४

३०. १८९३ में ब्रिटिश वायसरॉय लॉर्ड लैन्सडाउनने गोहत्या विरोधी आन्दोलन को १८५७-५८ के स्वातन्त्र संग्राम के समान ही व्यापक और प्रभावी माना था।

५. गांधीजी के जीवनमूल्य

गांधीजी हमेशा कहते थे, 'मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है'। अपने आप में यह वाक्य सीधा सादा लगता है। परन्तु प्रश्न यह है कि हम किसे गांधीजी का जीवन कहेंगे ? वे जो कुछ खाते पीते थे, पहनते ओढते थे, लोगों के सार्वजनिक या व्यक्तिगत प्रश्नों को लेकर दिनरात जूझते थे - यह सब उनके जीवन का अविभाज्य अंश है। परन्तु इन सबको जोड लेने के बाद भी 'जीवन' तो कुछ बाकी बचता है। वह है उनका साहस, उनका अभय, उनका मैत्रीभाव और उनकी सत्यपरायणता। यही महात्मा गांधी का 'जीवन' है।

उनका लेखन देखने पर उनका 'सन्देश' हमें कहां मिलता है ? क्या वह 'अनासक्ति योग' में है ? क्या वह 'मंगल प्रभात' में या 'मेरे सत्य के प्रयोग' में है ? या फिर 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' के पचास हजार पृष्ठों में बिखरा पडा है ? क्या 'खादी', 'ग्रामोद्योग', 'गोसेवा', 'नई तालीम' से लेकर 'अस्पृश्यता निवारण', 'हिन्दू मुस्लिम एकता', 'शराबबन्दी' और 'ब्रह्मचर्य' के प्रयोगों में उनका सन्देश पढा जा सकता है ? या उनका सन्देश 'हिन्द स्वराज' में है ? या फिर उनका सन्देश उनके लेखन में इस प्रकार समरस हो गया है कि हमारे लिये उसे पाना कठिन हो गया है और इसलिए उसे प्राप्त करना ही हम चूक गये हैं ?

जो लोग 'हिन्द स्वराज' पर बहुत जोर देते हैं वे भी शब्दों में जकड गये हैं। सामान्य स्तर पर हम उनकी नकल में अधिवक्ता, डाक्टर, पाश्चात्य संसद आदि का अनादर करते हैं। तात्त्विक चर्चा के बहाने 'स्वराज' शब्द को लेकर गांधीजी की कल्पना के नहीं तो संसदीय स्वराज की चर्चा करते हैं। हमारे कुछ लोगों को लगता है कि उन्होंने पूर्वजों की प्रशंसा की है इसका अर्थ है कि वे उनके पदचिह्नों पर चलते थे। इस प्रकार गांधीजी के 'जीवन' का मर्म तो पकड में आया ही नहीं है, कहीं खो गया है।

सन् १९२२ में एक ब्रिटिश पत्रकारने गांधीजी से कहा, 'सीझर का है वह सीझर को दीजिये'। उसका कहने का तात्पर्य था कि सरकार को कानून के

अनुसार कर देना चाहिए। उसने फिर गांधीजी से पूछा, 'इसका अर्थ यही नहीं तो क्या होता है ?'

गांधीजी का उत्तर बहुत स्पष्ट था,

'ईसा मसीह कभी किसी प्रश्नका उत्तर सीधे शब्दो में या सीधे सादे ढंग से नहीं देते थे; उनके शब्दों का अभिधार्थ इस नहीं है। उनके उत्तर आशा से अधिक व्यापक होते थे, उनमें बहुत गहराई होती थी, और उनके पीछे कोई व्यापक सिद्धान्त रहता था। प्रस्तुत उत्तर में भी ऐसी ही बात है। यहाँ उनका आशय यह कदापि नहीं है कि आप कर जरूर अदा करें या न करें। उनके कथन का अभिप्राय इससे कहीं विशेष है। जब वे यह कहते हैं कि ''जो चीजें सीजर की हैं उन्हें वापस सीजर को दे दो'' तब वे एक विधि की व्याख्या करते हैं।[१]

गांधीजी ईसा मसीह को ठीक समझे थे कि नहीं यह तो अलग विषय है। परन्तु उन्होंने बाईबल के वचन को जिस रूप में लिया वह सम्पूर्ण जीवनमें जो कुछ कहा और लिखा उसे लागू होता है। उन्होंने जो कुछ कहा है उसका मर्म समझने के लिये नीरक्षीर विवेक की अपेक्षा रहती है। उनके सन्देश का मूल तत्त्व और उनका दृष्टिकोण 'हिन्द स्वराज' में श्रेष्ठ रूप में परिलक्षित होता है। 'हिन्द स्वराज' में एक की प्रशंसा और दूसरे की आलोचना नहीं है अपितु निष्कर्षो एवं धारणाओं का भावपूर्ण वार्तालाप के माध्यम से प्रतिपादन है।

गांधीजी के जीवन में ओतप्रोत ऐसी कुछ बातें हैं 'मोक्ष', 'आश्रम', 'ब्रह्मचर्य', 'हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध', 'संसदीय लोकतन्त्र' और 'जाति'। इस अध्याय में इन्ही विषयों की कुछ चर्चा करने का मानस है।

मोक्ष

गांधीजी मोक्ष चाहते थे, परन्तु जनसेवा के माध्यम से ही मोक्षप्राप्ति की उन्हें चाह थी। गांधीजी का स्वदेशी के सिद्धान्त में विश्वास था। अतः उनके लिये जनसेवा का अर्थ था अपने आसपास के, निकट के लोगों की सेवा। (स्वदेशी का प्रथम चरण है दूर की अपेक्षा पास की वस्तुओं का स्वीकार।) उसके बाद भारतवासियों की सेवा। फिर भी प्रश्नों के निराकरण की दिशामें जैसे ही वे आगे बढते गये, भारतवासी और अभारतीय विश्व के विषय में द्विधा या संघर्ष का अनुभव उन्होंने कभी नहीं किया। उनके लिये भारत की सेवा और विश्व की सेवा में कोई अन्तर नहीं था।

उनके लिये सेवा के भी अनेक स्वरूप थे। भारत इंग्लैंड का, यूरोपीय सभ्यता का, यूरोपीय मूल्यों का गुलाम था। इसलिये सेवा का प्रथम स्वरूप था भारतीयों को इस गुलामी से मुक्त करने का उपाय खोजना और उसे क्रियान्वित करना। इसका सीधा अर्थ था यूरोपीय शासक और भारत की जनता का प्रत्यक्ष और अनिवार्य संघर्ष। इस संघर्ष में भारत की विजय हेतु उन्होंने असहयोग, सविनय नागरिक अवज्ञा और व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह के शस्त्रों का प्रयोग किया। इन शस्त्रों का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति समर्थ होना चाहिये इस हेतु से व्यक्तिगत एवं समूहगत व्यवहार की शुद्धि होनी चाहिये। ब्रिटिशरों की गुलामी के और उससे भी पूर्व के समय से व्यक्तिगत और समूहगत व्यवहार में जिन दोषों और त्रुटियों का प्रवेश हो गया था उनका निवारण होना चाहिये। इस दोषनिवारण और सामर्थ्यप्राप्ति हेतु उन्होंने यम और नियम के प्राचीन मूल्यों को व्यवहार में प्रतिष्ठित करने के लिये निर्देश किया। इसी के साथ परवर्ती काल में जिसे रचनात्मक कार्यक्रम कहा गया उन गतिविधियों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

गांधीजी के जीवन और लेखन से परिचित लोग भलीभांति जानते हैं कि गांधीजी एक साथ अनेक आयामों में प्रवृत्त थे। उनमें एक था मोक्षप्राप्ति, या 'हिन्द स्वराज' में निरूपित 'स्वराज्य' की प्राप्ति का पुरुषार्थ। इसी प्रकार से मोक्षार्थियों की सहायता करना भी उनका एक काम था, परन्तु 'हिन्द स्वराज' की सन् १९२१ के संस्करण की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है, 'मैं व्यक्तिगत रूप से इसमें वर्णित संयम का उपासक हूं। फिर भी वर्तमान में मेरा प्रमुख कार्य भारत के लोगों की अपेक्षा के अनुरूप संसदीय स्वराज की प्राप्ति हेतु प्रयास करना ही है।'

गांधीजी का दृढ विश्वास था कि विदेशी गुलामी की धुरा उतार फेंकने में, पश्चिमी सभ्यता, शैली और ढांचे से मुक्त होकर समाज को धार्मिक और नैतिक आधार पर टिकने की योजना और व्यवस्था करने में भारतीय जनता की सहायता करना उनका ईश्वरप्रदत्त कर्तव्य था। उनकी व्यक्तिगत आकांक्षा मोक्षप्राप्ति की होने पर भी इस कर्तव्य के अनुरूप स्वयं को ढालने के लिये और जनमानस को रूपान्तरित करने के लिये उनका जीवन समर्पित था। इस दिशा में उनका प्रथम प्रयास था अच्छे समाज और अच्छे राज्य की स्थापना। उनकी श्रद्धा थी कि यही मोक्षप्राप्ति का भी मार्ग था। और यदि इस मार्ग से चलकर मोक्ष प्राप्त नहीं होता तो फिर मोक्ष की अपेक्षा भी नहीं थी।

इसीसे एक बात स्पष्ट है कि मोक्ष अथवा स्वराज (उनके लिये स्वराज ही

मोक्ष था) उनके लिये या उनके जैसे अन्य लोगों के लिये एक मात्र आकांक्षा नहीं थी। प्रमुख आकांक्षा तो थी भारत की मुक्ति। मुक्ति के उद्देश्य से लोगों को संगठित करना, उन्हें संगठन कौशल सिखाना, स्वयं के उदाहरण से उनमें साहस जगाना उन्हें अतीव आवश्यक लगता था। उनको लगता था कि लोगों में यदि ये सारे गुण निर्मित होते हैं तो आत्मगौरव अपने आप जगेगा, लोग सक्रिय होंगे, और सुख भी प्राप्त करेंगे। बन्धुभाव ऐसे जगेगा कि आपसी टकराव या संघर्ष की सम्भावना निःशेष हो जायेगी।

आश्रम

भारत को न केवल स्वतन्त्र अपितु समर्थ बनाना भी गांधीजी की योजना में था। उस दृष्टि से इस प्रकार की एक जीवनशैली विकसित करने की आवश्यकता थी जो केवल भारत के लिये ही नहीं तो विश्व के लिये कल्याणकारी हो।

इसका प्रथम चरण था भारत को गुलामी से मुक्त करना। दूसरा था समाजजीवन में प्रवेश कर गये दोष और सड़न को दूर कर उसे शुद्ध और परिष्कृत करना। वह भी गुलामी से मुक्ति के समान ही आवश्यक था। इस उद्देश्य से उन्होंने अन्यान्य संस्थाओं का निर्माण किया और संस्थागत ढांचे से सम्बन्धित अनेक प्रयोग किये। इन प्रयोगों में एक सुविख्यात प्रयोग है गांधी आश्रम।

अनेकों का अभिप्राय है कि गांधीजी की समाज विषयक कल्पना को आश्रम में साकार रूप प्राप्त हुआ है। परन्तु मेरे अभिप्राय में इस प्रकार की कल्पना करना अत्यन्त गलत होगा। गांधीजी का आश्रम सर्व प्रथम तो एक प्रशिक्षण केन्द्र था। उन्होंने इसी रूप में उसकी कल्पना भी की थी। शरीर और मन को सामर्थ्यवान बनाने के लिये सोद्देश्य अनुशासन का प्रशिक्षण वहां प्राप्त होता था। यह कहना भी मेरी धृष्टता नहीं होगी कि आश्रम की तुलना सैनिकी छावनी के साथ की जा सकती है। उस छावनी के शस्त्र और दैनन्दिन अभ्यास अलग प्रकार के थे, परन्तु उद्देश्य और दिनचर्या सैनिकी छावनी के समान ही थी। आश्रम और आश्रम के प्रशिक्षित लोग भारत में एकत्व निर्माण करने के लिये, और एक ऐसा सैन्य तैयार करने के लिये बने थे जो उनके शत्रु (ब्रिटिश) की न केवल बराबरी कर सके अपितु उनसे भी बढ़कर हो। कम से कम १९४२ तक को आश्रम की यही संकल्पना थी।

इस के बावजूद आश्रम को केवल सैनिकी छावनी कहना भी अल्पोक्ति होगी। वह उस समय की ब्रिटिश छावनी जैसा तो नहीं ही था। जिनकी रुचि उस

प्रकार की थी - उदाहरण के लिये विनोबा भावे, किशोर लाल मशरुवाला, सुरेन्द्रजी आदि - उनके लिये आश्रम ब्रह्मविद्या की उपासना का केन्द्र था। अन्य अनेक लोगों के लिये वह तपश्चर्या का स्थान था, तो जीवन से त्रस्त कुछ लोगों के लिये वह आश्रयस्थान भी था। इस प्रकार आश्रम गांधीजी के विचारों और संगठन कौशल का मूर्त रूप था।

स्थापना के तुरन्त बाद से आश्रम 'रचनात्मक कार्यक्रम' का केन्द्र भी बन गया। आवश्यकता के अनुसार क्रमशः रचनात्मक कार्यक्रम के एक एक कार्य के लिये स्वतन्त्र संस्था का निर्माण होने लगा। उदाहरण के लिये चरखा संघ, गोसेवा संघ, हरिजन सेवक संघ, ग्रामोद्योग संघ, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, नई तालीम संघ आदि रचनात्मक कार्यक्रम के ही विभिन्न अंग थे।

फिर भी, आश्रम में रचनात्मक कार्यक्रम की महत्त्वाकांक्षी योजना बनने पर भी, इतने स्वतन्त्र संगठनों की रूपरेखा बनने पर भी, देशभर के विभिन्न राज्यों के व्यवहार की सुगमता के लिये एक भाषा का प्रचार कार्य चलने पर भी, विभिन्न धार्मिक समुदायों - विशेष रूप से हिन्दू - मुस्लिम समुदाय - में भाईचारा बनाने के प्रयास चलने पर भी आश्रम का प्रमुख और केन्द्रवर्ती कार्य समर्पित और निष्ठावान स्वातन्त्र्य सेनानियों के निर्माण का था। गांधीजी की योजना के अनुसार ये सेनानी स्वातन्त्र्य संग्राम में सहभागी होने के लिये तो थे ही, साथ में उन्हें जनता के प्रतिनिधि और प्रवक्ता भी बनना था। वे ऐसा कुछ करना चाहते थे कि बिना इन सेनानियों के अनुमोदन के राज्य का कार्य चलना सम्भव न हो।

इतना सब कुछ होते हुए भी, इतनी संस्थाओं एवं योजनाओं के बावजूद आश्रम और उसका समग्र रचनात्मक कार्यक्रम भी गांधीजी के सामाजिक सन्देश का एक मात्र स्वरूप था यह कहना भी अल्पोक्ति होगी।

समाज के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति करने के आश्रम के कार्य का मूल्य शाश्वत है। रचनात्मक कार्यक्रमों ने भी रचनात्मक दिशा प्रदान की है। फिर भी इन सभी की उस समय अनिवार्यता होने पर भी गांधीजी के लिये उनका महत्त्व तत्काल स्वरूप का ही था। तत्कालीन परिस्थिति की आवश्यकता उनका स्रोत था। इन सभी कार्यक्रमों का अपना विशिष्ट महत्त्व था। परन्तु एक दूसरे से और परिवेश से अलग उनका स्वतन्त्र प्रयोजन नहीं के बराबर था। समग्र रूप में उनका समवेत उद्देश्य गुलामी से देश और देशवासियों को मुक्त करना और सुसंस्कृत समाज की रचना का था। गांधीजी ने सन् १९२५ में कहा था, और सन् १९४४ में दुहराया

था उसके अनुसार खेती का कार्य खादी से भी अधिक मूल्यवान था, और देश की आशा, आकांक्षा और आवश्यकताओं को अधिक सार्थ रूप में पूर्ण करनेवाला था, परन्तु तत्कालीन स्थिति को देखते हुए, गुलामी में जकडे हुए हमारे लिए कृषि को वह स्थान देना सम्भव नहीं था।

ब्रह्मचर्य

गांधीजी का विश्वास था कि एक पूर्ण पुरुष में, एक योगी में सम्पूर्ण विश्व को हिलाने का और उसे अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्त करने का सामर्थ्य होता है। गिल्बर्ट मरे ऐसे मनुष्य के लिये 'स्वयं के लिये कुछ भी न करनेवाला मनुष्य' इस प्रकार की शब्दावलि का प्रयोग करता है। यद्यपि गांधीजी स्वयं चमत्कारी पुरुष थे, मनस्वी थे, अपनी बात लोगों को भी गले उतरवाने में समर्थ थे, तो भी वे अनुभव करते थे कि लोग उनके साथ होते थे तब उनके दबाव और प्रभाव में रहकर, उनकी आभा में रहकर ही उनकी बात मानते थे, उनका अनुसरण कर के स्वयं आचरण करते थे परन्तु जैसे ही उनको लगता था कि यह सब अनिवार्य नहीं है तब उस आचरण का और उन बातों का त्याग कर देते थे। गांधीजी का मानना था कि उनकी इच्छाशक्ति, उनकी श्रद्धा और उनकी तितिक्षा कम होना ही इसका कारण था।

ब्रह्मचर्य के विषय में गांधीजी ने स्वयं की एक से अधिक बार परीक्षा की थी। जून १९३८ में उन्होंने 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक से एक लेख लिखा। उनका यह लेख अप्रकाशित है। इस लेख में उनके ब्रह्मचर्य विषयक विचार भलीभांति व्यक्त हुए हैं। यहां उस लेख का कुछ अंश उद्धृत करना उचित होगा।

'सैंकडों युवक और युवतियां मेरा अनुसरण कर ब्रह्मचर्य पालन का प्रयास कर रहे हैं, पूर्ण नहीं तो कुछ मात्रा में संयमपूर्ण आचरण कर रहे हैं। उनके लिये, और सत्य के लिये मुझे मेरे हाल ही के अनुभव प्रकट करना चाहिये...

मैं मानता था कि मैं इस विषय में प्रगति कर रहा हूं। इससे मैं पर्याप्त रूप में सन्तुष्ट भी हूं। परन्तु गत ६ अप्रैल को मैंने एक खराब स्वप्न देखा और मैं आहत हुआ। दिनांक चौदह को तो मैंने जो अनुभव किया वह पूर्व में कभी नहीं किया था। यह अनुभव तो जाग्रत अवस्था में था... मेरा संघर्ष बारह घण्टों तक निरन्तर चलता रहा। मैं हार गया। मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरा वीर्यस्खलन हुआ। मुझे अपने विषय में ही लज्जा का अनुभव हुआ। मेरा ब्रह्मचर्य खण्डित हुआ... मेरा आत्मविश्वास टूट

गया... मेरे मनमें उसका एक कारण उद्भूत हुआ। मेरा महिलाओं के साथ बना निकट और मुक्त सम्पर्क इसके लिये कारणभूत होगा क्या ? मुझे स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं हुआ...

मैं निराश नहीं हूं। विनम्र अवश्य हुआ हूं। मैं जिस ऊंचाई पर था वहां से तो मेरा पतन अवश्य हुआ है। ब्रह्मचर्य के सामर्थ्य से ही दक्षिण आफ्रीका में मैं सर्वाधिक ताकतवर लोगों की बराबरी कर के कठोर परिश्रम कर सकता था। कभी कभी तो दिन में चालीस मील पैदल चलता था... ब्रह्मचर्य का यह शारीरिक पक्ष भी ध्यान देने योग्य है। परन्तु बिना मनःसंयम किये केवल इन्द्रिय संयम निरर्थक है। वह तो बहुत ही भंगुर है। साथ ही उसमें मनुष्य के दम्भी बन जाने की भी पर्याप्त सम्भावना है...

मैं सत्याग्रहियों की सेना का स्वयंनियुक्त सेनापति हूं। मेरे पास ब्रह्मचर्य को छोड कोई शस्त्र नहीं है। और सत्य और अहिंसा के आधार के बिना ब्रह्मचर्य चल ही नहीं सकता। मेरे पास विचारों को छोड सन्देश भेजने का भी कोई साधन नहीं है। मुझे नहीं लगता कि मानवीय माध्यम से मैं लाखों लोगों तक पहुंच पाया हूं। मेरे विश्वास योग्य अनुभव के आधार पर ही मुझे लगता है कि यदि किसी का अपने विचारों पर पूर्ण नियन्त्रण होता है तो उसकी शक्ति विज्ञाननिर्मित किसी भी प्रकार के शक्तिस्रोत की अपेक्षा अधिक होती है। विचारों का नियन्त्रण रेतस के ऊर्ध्वीकरण के बिना सम्भव ही नहीं है। सम्भोग के प्रयोजन रहित वीर्यस्खलन परमात्मा के द्वारा प्रदान की गई सर्वश्रेष्ठ शक्ति का अपव्यय करने के बराबर है। विचारों के साथ साथ इन्द्रियव्यापार के नियन्त्रण के बिना रेतस का ऊर्ध्वीकरण सम्भव नहीं है।

मैंने इस मार्ग की कुछ यात्रा की है। परन्तु निश्चित रूप से अभी लम्बी दूरी तय करना शेष है। मेरी इसी कमी के कारण से कोंग्रेस को आन्तरिक भ्रष्टाचार, हिंसा और अनुशासनहीनता से उबारने का कोई कारगर उपाय मेरे पास नहीं है। अहिंसा सर्वहित का साधन है इस बात पर तो मेरी श्रद्धा अटूट है। परन्तु मैं कोंग्रेसियों में इस प्रकार की श्रद्धा निर्माण क्यों नहीं कर सकता ? इसका कारण अब मुझे समझ में आता है। अहिंसा केवल तर्को से सिखाई नहीं जा सकती। वह तो एक हृदय से दूसरे हृदयमें संक्रमित होती है। उसमें यशस्वी होने के लिये मेरे विचार और वाणीमें सामर्थ्य होना चाहिये। मुझमें यह शक्ति नहीं है क्यों कि मेरे विचार विना लगाम के घोडे की तरह उच्छृंखल वन रहे हैं। चौदह अप्रैल को यही हुआ था। सत्याग्रह की सेना के सेनापति के रूप में यश प्राप्त करने के लिये मुझे मेरे

विचारों पर नियंत्रण प्राप्त करना पडेगा। जिन जिन की मेरे इस प्रयोग से सहमति है वे भी मेरे साथ प्रार्थना करें कि सर्वशक्तिमान परमात्मा मेरी पवित्रता बनाये रखें।''२

हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध

भिन्न भिन्न हथकण्डों का प्रयोग कर भारतीय समाज के विषय में भ्रान्त धारणाओं को प्रचारित करना ब्रिटिशरों का आम उद्देश्य था। इस भ्रान्त दुष्प्रचार का एक क्षेत्र था हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध। भारत की समस्त मुस्लिम जनसंख्या का केवल पांच प्रतिशत आक्रमणकारी के रूप में ईरान, तुर्की, अफघानिस्तान, मध्य एशिया एवं अरब देशों से आया हुआ है। शेष पंचानवे प्रतिशत तो हिन्दू धर्म से मन्तान्तरण कर मुस्लिम बन गये हैं। वे तो भारतवासी ही हैं। जिन्होंने मत परिवर्तन किया वे उनके इस्लामी विजेताओं की अपेक्षाओं को निष्ठापूर्वक पूर्ण करते थे, परन्तु अपना दर्जा और अपनी जीवनशैली को उन्होंने पूर्वरूप में ही बनाये रखा था। आज भी अधिकांश मतान्तरित मुस्लिम अपनी मूल जाति की परम्पराओं का ही पालन करते हैं। उनमें विशेष बदल हुआ नहीं है। उदाहरण के रूप में वे अन्य जाति के मुसलमान के साथ बेटी का विवाह नहीं करते हैं। (पाकिस्तान में भी इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है।) आक्रमणकारी के रूपमें बाहर से आये हुए मुसलमानों के साथ तो बेटी व्यवहार का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। (हिन्दू से ईसाई मत में परिवर्तित होने वाले भी इसी प्रकारका व्यवहार करते हैं।)

हिन्दू एक विजित प्रजा थी। संख्या में बहुत विशाल थी। अतः विजेता उन्हें अपने नियन्त्रणमें रखने के लिये और उन्हें गौण स्थान देने के लिये विवश थे। जब भी हिन्दुओं की ओर से कोई भय निर्माण होने का आभास होता था तब उनके विरुद्ध मतान्तरण का शस्त्र प्रयोग में लाया जाता था। उससे बचने के लिये हिन्दुओं को अतिरिक्त कर चुकाना पडता था। मुसलमान शासकों ने तो हिन्दुओं के मन्दिरों एवं पूजा स्थानों का ध्वंस किया और नाश किया। उनको सार्वजनिक रूप से उत्सव मनाने पर प्रतिबन्ध था। जब कोई मुस्लिम त्योहार पडता था तब, विशेष रूप से हिन्दुओं को नीचा दिखाने के लिये गाय और गोवंश की हत्या करके उसकी बलि चढाई जाती थी क्यों कि गाय हिन्दुओं में पवित्र मानी जाती थी और बहुत प्रिय भी थी।

परन्तु इस प्रकार के व्यवहार के भी अपवाद रहते थे। एक कालखण्ड ऐसा

था जब गोहत्या प्रतिबन्धित थी, गैरमुस्लिम लोगों को अतिरिक्त कर नहीं चुकाना पडता था और हिन्दुओं और मुसलमानों के अच्छे सम्बन्ध स्थापित होते थे। किसी किसी मुस्लिम शासक के द्वारा हिन्दुओं के मन्दिर बनवाने के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। पांच सौ वर्षों के मुस्लिम आधिपत्य के कालखण्ड में भारत के मूल निवासी हिन्दू और बाहर से आक्रान्ता के स्वरूप में आकर उत्तरी और पश्चिमी भारत में शासक बन जानेवाले मुस्लिमों के सम्बन्धों में अनेक चढाव और उतार आये थे। सन् १२०० से प्रारम्भ होनेवाले ये आपसी सम्बन्ध अनेक प्रकार के और जटिल रहे हैं। परन्तु इस्लाम ने, और उनसे भी बढकर ब्रिटिशरों ने, उन्हें एक ही प्रकार के बताये हैं।

प्रारम्भ के वर्षों में गांधीजी स्वयं भारतीय समाज के अवपात को ठीक से समझ नहीं पाये थे। मुसलमान लेखकों के द्वारा किये गये भारत विजय के अतिरंजित वर्णनों से वे भी प्रभावित हो गये थे। अंग्रेज लेखक तो हिन्दुओं और मुसलमानों में बहुत बडी खाई है और इस खाई का मूल कारण हिन्दुओं की अनेक जातियां होना है, और इसलिये दोनों में मेल हो ही नहीं सकता यही प्रस्थापित करते थे। गांधीजी पर भी इस प्रस्तुति का असर पडता था। उनको लगता था कि ब्रिटिशरों का सामना सबने मिलकर करना है तो हिन्दू मुस्लिम एकता होना आवश्यक था। अतः ब्रिटिशरों के द्वारा प्रस्तुत समस्याओं की ओर गांधीजी ने अधिक ध्यान देना शुरू किया। परन्तु ये समस्याएँ तो ब्रिटिशरों ने जानबूझकर, सोद्देश्य प्रस्तुत की हुई थीं।

'हिन्द स्वराज' में गांधीजी पाठक से एक प्रश्न पुछवाते हैं, 'लेकिन हिन्दुओं और मुस्लिमों की यह जन्मजात दुश्मनी का क्या करेंगे ?' गांधीजी उत्तर में कहते हैं, ''यह तो दोनों के समान शत्रु के मस्तिष्क की कल्पना है... उन्हीं के प्रयासों से हमारा झगडा बढा है।' यहां तक तो गांधीजी का निदान सही है।

परन्तु इतना समझने के बाद भी हिन्दुओं और मुस्लिमों के बीच वैमनस्य पैदा करने में और उसे हवा देने में अंग्रेजों की भूमिका कितनी अधिक थी इसका सही आकलन गांधीजी नहीं कर सके। 'हिन्द स्वराज' में जब गोरक्षा के विषय में उन्हें प्रश्न पूछा जाता है तब वे अंग्रेजों के वर्णन के अनुसार ही उत्तर देते हैं,

'गाय सैकड़ों दृष्टियोंसे उपयोगी प्राणी है। यह तो मुसलमान भाई भी कबूल करेंगे कि वह उपयोगी प्राणी है।

किन्तु जिस प्रकार मैं गायको पूजता हूँ, उसी प्रकार मनुष्यको भी पूजता हूँ। जैसे गाय उपयोगी है, उसी प्रकार मनुष्य भी उपयोगी है। इसलिए अपने विचार के

मुताबिक तो मैं कहता हूँ कि गायकी रक्षा का उपाय एक ही है कि मैं अपने मुसलमान भाइयोंसे प्रार्थना करूँ और देश के लिए उसे गाय की रक्षा करने की बात समझाऊँ। यदि वह न समझे तो मुझे गाय को जाने देना चाहिए। क्योंकि (तब) वह मेरे वशकी बात नहीं है।'[३]

ब्रिटिशरों की कपटपूर्ण प्रस्तुति का प्रभाव इतना अधिक था कि मुसलमान स्वभाव से और आदत से गोहत्या करनेवाला है ऐसी धारणा अत्यन्त दृढ बन गई थी। वह चाहे भारत के बाहर से आए हुए आक्रमक मुस्लिम का वंशज है या मूल भारतीय मतान्तरित मुसलमान है वास्तवमें वह स्वभाव से गोहत्या करनेवाला नहीं है। यह बात विशेष रूप से लक्षणीय है कि आरब, तुर्क, इरानी, अफघान और मध्य एशियावासी स्वाभाविक क्रम में गोमांस खानेवाले नहीं थे। स्वाभाविक रूपसे तो वे भेड, बकरी, ऊंट का मांस खानेवाले थे।

वास्तव में तो ब्रिटिश, यूरोपीय और अमेरीकी लोग ही गोहत्या के विषय में पूर्ण रूप से अपराधी हैं। सन् १८८० के अरसे में भारत में गोहत्या के विरोध में बहुत बडा आन्दोलन हुआ था। और अंग्रेज अच्छी तरह से जानते थे कि 'यह आन्दोलन मुसलमानों के नहीं अपितु उनके स्वयं के खिलाफ था।'[४]

गांधीजी भी जानते थे कि यह आन्दोलन मूल रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध ही था, क्यों कि उस समय भारतमें रहनेवाले एक लाख अंग्रेज सैनिक और उससे भी अधिक संख्यामें रहनेवाले अंग्रेज नागरिकों को गोमांस खिलाने के लिये प्रतिदिन लाखों गायों की हत्या अंग्रेज करते थे। सन् १९१७ के अक्तूबर में बेतिया के भाषण में उन्होंने क़हा,

'यह भी विचारने लायक बात है कि सारे भारत के बड़े शहर कसाईखाने बन गये हैं। वहाँ हजारों गायों और बैलों का वध होता है। और अधिकांश अंग्रेज भाईयोंको मांस वहींसे दिया जाता है। इस विषयमें सारा हिन्दू जगत् चुप है और उस हत्याको बन्द करानेमें वह अपने आपको असमर्थ मानता है।'[५]

उसके कुछ ही दिन बाद मुझफरपुर में उन्होंने कहा,

'यदि हमें गायकी रक्षा करनी है तो हमें उसे कसाईखानेसे बचाना चाहिए। अंग्रेज बन्धुओं के लिए हररोज कमसे कम ३० हजार गाय और बछड़े कत्ल किये जाते हैं। और जबतक हम इस हत्याको रोक नहीं पाते तबतक मुसलमान भाईयों पर हाथ उठाने का हमें कोई अधिकार नहीं है।'[६]

पुनः दिसम्बर १९२० में बेतियामें उन्होंने कहा,

'जैसे नमाझ पढ़ना मुसलमानों का फर्ज है, वैसे ही गायको मारना भी उनका फर्ज होता तो मैं मुसलमानोंसे कहता कि मुझे तुमसे भी लड़ना पड़ेगा। परन्तु यह उनका फर्ज नहीं है। हमने उनके प्रति अपने बर्तावसे इसको उनका फर्ज बना दिया है।

जरूरत तो इस बातकी है कि गायको बचाने के लिए पहले खुद हिन्दू उसकी रक्षा करें; हिन्दू भी तो गायकी हत्या कर रहे हैं। फूंकेका प्रयोग करके गायका सारा दूध खींच लेना, गायकी सन्तान-बैलोंको आर भोंककर कष्ट देना और उनसे बूतेसे अधिक बोझा खिंचवाना, यह सब गायकी हत्या करने के बराबर है। गोरक्षा करने के लिए हमें पहले अपना घर दुरूस्त करना चाहिए।'[७]

स्वयं जो गोहत्या करते थे उसको उचित सिद्ध करने के लिये अंग्रेजों ने मुसलमानों का एक ढाल के रूपमें उपयोग किया। यह भी सच है कि कुछ मुसलमान वास्तवमें गाय की हत्या करते थे। यह भी ठीक है कि वे गायको स्वयं के लिये नहीं मारते थे। उन्हें अंग्रेजों के लिये गाय की हत्या करने के लिये वेतन मिलता था। परन्तु गाय के सही हत्यारे तो अंग्रेज थे। अतः ब्रिटिशरों के भारत छोड कर जाने के बाद ही गोहत्या बन्द हो सकती थी।

सन् १९४७-४८ में मुसलमान नेताओंने सिद्ध कर दिया कि गोहत्या की समस्याको लेकर वे अधिक समझदार हैं। कुछ मुस्लिम अग्रणियोंने सूचित किया कि स्वतन्त्र भारत के संविधान में गोहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध को समाविष्ट करना चाहिए। परन्तु अधिकांश नेता लोग इतने पश्चिम परस्त बन गये थे कि उनको लगता था कि ऐसा करने से विश्व में उनकी प्रतिष्ठा कम होगी। आज भी हमें ऐसा ही लगता है। अतः सन् १९४७ तक जो अंग्रेजों ने किया वही १९४७ के बाद हम कर रहे हैं। अर्थात् मुसलमानों की आड लेकर गोहत्या करते रहते हैं।

संसदीय लोकतन्त्र

'हिन्द स्वराज' में गांधीजीने दर्ज किया है, 'संसद तो गुलामीका संकेत है।'[८] भारत में आने के तीन वर्ष बाद उन्होंने अपने अभिप्राय में कुछ बदल किया। इंग्लण्ड के एक सज्जन को अपना दृष्टिकोण समझाते हुए वे फरवरी १९१८ में लिखते हैं,

'मेरी जो भूमिका लन्दन में थी उसी पर मैं आज भी कायम हूं। परन्तु उस स्वरूप की सरकार बनना आज सम्भव नहीं है। भारत को संसदीय सरकार के

शासन के दौर से गुजरना ही पडेगा। इसका स्वीकार करते हुए मैं भारत को उत्तम संसदीय सरकार प्राप्त कराने के सभी प्रयासों में सहयोग करूंगा। यह सरकार वर्तमान बर्बरता से भारत को मुक्ति दिलाने वाली होगी। संक्षेप में कहना है तो मैं ऐसी किसी भी प्रकार की गतिविधि में सहयोग करूंगा जो हर व्यवस्था में स्थित सामान्य सिद्धान्तों को प्रचलन में लानेवाली और लोकप्रिय बनानेवाली हो।'[१]

३ नवम्बर १९१७ को गुजरात के गोधरा में राजकीय सम्मेलन हुआ था। उसमें अपने एक दीर्घ प्रवचन में उन्होंने इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत किए थे। उन्होंने कहा था,

'मेरे विचार इस प्रकार के होने पर भी मैं स्वराज्य के आन्दोलन में सहभागी बनता हूं क्यों कि वर्तमान में सरकार जिस पद्धति से शासन चलाती है वह तो आधुनिक पद्धति है। उस पद्धति का शुद्ध स्वरूप 'पार्लियामेण्ट' है ऐसा सरकार का मानना है। ऐसी पार्लियामेण्ट भी हमें नहीं मिलती है तो हम इतो भष्टस्ततो भ्रष्ट हो जाएंगे। श्रीमती बेसंट का एक वाक्य बहुत सही है। या तो हिन्दुस्तान को स्वराज्य प्राप्त हो नहीं तो हिन्दुस्तान में भुखमरी फैलेगी। मैं आंकडों में जाना नहीं चाहता। मेरे प्रत्यक्षदर्शी प्रमाण से ही कहूंगा कि हिन्दुस्तान में गरीबी बढ़ रही है। इससे अलग परिणाम हो भी कैसे सकता है ? जो देश अपना कच्चा माल बाहर भेजता है और उसीसे निर्मित पक्का माल आयात करता है, जो देश स्वयं कपास पैदा करता है परंतु कपडे के लिये करोडों रूपये विदेशों को देता है वह देश गरीब नहीं होगा तो क्या होगा ? जिस देश के लोगों का विवाह समारोहों में खर्च करना उडाऊगीरी मानी जाती हो उस देश की स्थिति भिखारी जैसी ही मानी जाएगी। जिस देशमें प्लेग आदि रोगों का उपाय करने के लिए पैसा खर्च नहीं किया जाता उस देश को भिखारी ही कहना चाहिए। जिस देश के अधिकारी वर्ग का धन देश के बाहर जाकर खर्च किया जाता हो वह देश गरीब ही बननेवाला है। जिस देश के लोग ऊनी वस्त्रों के अभाव में ठंड से बचने के लिये अपने सोने के मूल्य के बराबर गोबर के कण्डे जलाने के लिये विवश हो जाते हों वह देश गरीबी से ग्रस्त नहीं हो जाएगा ? मैं पूरे हिन्दस्तान में घूमता हूं। मुझे कहीं पर भी लोगों के चेहरे पर तेज नहीं दिखाई देता। मध्यम वर्ग महाव्यथा में डूबा हुआ है। कनिष्ठ वर्ग को ऊपर आकाश नीचे भूमि है। उसके लिए सुदिन नहीं है। हिन्दुस्तान की सम्पत्ति भूमि के नीचे और गहनों में है वह निरी कल्पना ही है। अगर है भी तो उसकी कोई गणना नहीं है। लोगों की कमाई तो बढी नहीं है, व्यय अवश्य बढा है।

अपनी पार्लियामेन्ट होगी तो वह क्या करेगी ? हिन्दुस्तान में अपनी पार्लियामेण्ट होगी तब गलतियां करने का और उन्हें दुरस्त करने का हमारा अधिकार रहेगा। प्रारम्भ में हम गलतियां करेंगे। परन्तु हम इस देश के होने के कारण सुधार करने में विलम्ब नहीं होगा। भुखमरी का उपाय तो तुरन्त प्राप्त होगा। हमारा जीवन लेंकेशायर की चीजों पर निर्भर नहीं करेगा। हम अपनी अक्षय सम्पत्ति खर्च करके बादशाही दिल्ली नहीं बनायेंगे। बादशाही दिल्ली की आकृति गांव की झोंपडी जैसी बनेगी। झोंपडी और पार्लियामेंट हाउस में यथोचित अन्तर अवश्य होगा। आज तो प्रजा सर्वथा रंक बन गई है। उसे गलती करने का भी अधिकार नहीं है। जिसे गलती का अधिकार नहीं है वह सुधार नहीं कर सकता। ब्रिटिश आम सभा का इतिहास गलतियों का इतिहास है। इन्सान गलतियों का पुतला है ऐसी एक अरबी कहावत है। गलती करने की अनुमति और सुधार करने का अधिकार ही स्वराज्य की परिभांषा है। यह स्वराज पार्लियामेन्ट में है।

अतः हमें पार्लियामेण्ट चाहिए। आज ही चाहिए। हम आज ही उसके लायक हैं। हम जब चाहेंगे तभी स्वराज प्राप्त होगा। हम चाहेंगे कब यह भी हमारे पर ही निर्भर करता है।'[१०]

गांधीजी के अभिप्राय में स्वराज हमें अंग्रेजों से प्राप्त नहीं करना था।

'योग्यता कैसे आएगी ? हमने हिन्द की प्रजा से स्वराज की मांग करना है। हमारा आवेदन पत्र उसके सम्मुख है। जब हिन्दुस्तान के किसान को समझ में आएगा कि स्वराज क्या है तब स्वराज को कोई रोक नहीं पाएगा।'[११]

गांधीजी का यह दृढ अभिप्राय था। सन् १९२२ से १९२४ तक वे कारावास में थे। तब चित्तरंजन दास के साथ उनका वार्तालाप हुआ था। उसमें भी यही अभिप्राय झलकता है। ऐसा लगता है कि सन् १९२३ के आसपास ब्रिटिश सेक्रेटरी ऑव् स्टेट फॉर इण्डिया लॉर्ड बर्कनहेड के साथ और चित्तरंजन दास, पण्डित मोतीलाल नेहरू, मौलाना शौकत अली और अन्य स्वराज्यवादी कोंग्रेस नेताओं के साथ भारत में डोमिनियन स्टेटस स्थापित करने के विषय में अंग्रेजों की मन्त्रणाएँ चल रही थीं। इन मन्त्रणाओं के विषय में गांधीजी को अवगत कराया गया तव चित्तरंजन दास के अभिप्राय में ये मन्त्रणाएँ सरलातपूर्वक चल रही थीं। परन्तु इन मन्त्रणाओं का उल्लेख कर गांधीजीने २५-५-१९३२ को कहा,

'दास और मोतीलालजी नई सरकार में स्वयं को कौन सा विभाग मिलेगा उसका विचार कर रहे थे। महंमद अली को लगता था कि वे शिक्षामंत्री वनेंगे।

शौकतअली सेनापति बनने का विचार कर रहे थे। सौभाग्य से हमें स्वराज मिला नहीं, कोई कुछ बना नहीं और हमारी इज्ज़त बच गई।'[१२]

निष्कर्ष यह निकलता है कि गांधीजी के अभिप्राय में अंग्रेजों के साथ इस प्रकार की मन्त्रणा का उचित समय तभी मानना चाहिए जब भारत के जनसामान्य को साहस और निर्भयता का अनुभव हो और वे अपने बल पर खडे हो जाएँ। सन् १९२५ में तो यह समय आया नहीं था। गांधीजी को तो लगता था कि सन् १९४६-४७ में भी अंग्रेजों के साथ बराबरी से मन्त्रणा करने की पर्याप्त शक्ति भारत के जनसामान्य की नहीं थी।

जाति

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके विषय में गांधीजीने अपने अभिप्राय में कुछ बार बार बदल किया है। जून १९१६ में अहमदाबाद में उन्होंने सार्वजनिक रूप में जाति के विषय में अभिप्राय व्यक्त किया। उन्होंने कहा, 'जातिप्रथा के विषय में मैंने बहुत विचार किया है' और 'मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि हिन्दू समाज उसे छोड नहीं सकता। उसमें एक निश्चित स्वरूप का अनुशासन है और उसी कारण से समाज ठीक चलता है।'[१३]

अक्टूबर १९१६ में उन्होंने फिर हिन्दू जातिप्रथा के विषय में लिखते समय विलियम हण्टर की टिप्पणी का उल्लेख किया। हण्टरने कहा था, 'जातिसंस्था के अबाधित अस्तित्व के कारण से हिन्दुस्तान में गरीबों के लिये कोई कानून की आवश्यकता नहीं है।' इस टिप्पणी से सहमति जताते हुए गांधीजीने कहा,

'जाति संस्था में स्वराज का बीज है। विभिन्न जातियां सेना के विभागों जैसी हैं। सेनापति प्रत्येक सैनिक को जानता नहीं है, परन्तु विभागीय अधिकारी के माध्यम से हर सैनिक को काम में लगाता है। उसी प्रकार से जातिभेद के माध्यम से समाजसुधार का कार्य सरल हो सकता है। हमारा धार्मिक, व्यावहारिक, नैतिक और राजकीय चक्र हम अपनी इच्छा के अनुसार घुमा सकते हैं।

जातियोजना स्वाभाविक स्थिति है। मेरा विचार इस प्रकार का होने के कारण आज जो जातिभेद का नाश करने के प्रयास चल रहे हैं उन्हें मेरा समर्थन नहीं है। मैं उनके विरुद्ध हूं। जाति हमारे लोगों के लिए एक सीमा है। उससे बाहर जाकर उपभोग करने का हमें अधिकार नहीं है। हम अन्य जाति के साथ भोजनव्यवहार या विवाहव्यवहार नहीं करेंगे। इससे अनाचार कम होने का सम्भव

है। जाति से बाहर विवाहव्यवहार न करने में संयम है और संयम तो हमेशा सुखदायक ही होता है। जाल जितना अधिक फैलता है उतना संकट भी बढता ही है। अपनी ही पंक्ति से वर या वधू ढूंढने में मुझे कोई दोष नहीं दीखता है।

जाति संस्था में भोजन और विवाह के अतिरिक्त अन्य लाभ भी हैं। उसी में प्राथमिक शिक्षा का साधन भी है। हर जाति अपनी अपनी शिक्षा का प्रबन्ध करेगी। जाति में स्वराज्य की पार्लियामेंट के चुनाव का साधन भी तैयार है। हर प्रतिष्ठित जाति अपने अपने प्रतिनिधि का चुनाव करेगी। झगडे मिटाने के लिए पंचों का न्यायाधिकरण भी उसीमें है। युद्ध के लिए सेना चाहिये तो वह भी विभागों में तैयार ही है। जातिसंस्था की जडें हिन्दुस्तान में इतनी गहरी हैं कि उसको उखाडने के स्थान पर उसमें सुधार करना मुझे अधिक हितकारक लगता है।

हिन्दू समाज की आवश्यकता के अनुसार जाति का क्षय, उत्पत्ति और सुधार होते आए हैं। वर्तमान में दृश्य या अदृश्य रूप से हो भी रहे हैं। हिन्दू जाति जड, निर्जीव नहीं अपितु जीवमान संस्था है और अपने ही नियमों से चलती है। दुर्भाग्य से आज उसमें आडंबर और मिथ्याचार, उपभोगपरायणता और झगडे खूब दिखाई देते हैं। परन्तु उसका अर्थ यह है कि लोगों में चरित्रहीनता आ गई है। इतने मात्र से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि स्वयं व्यवस्था ही ठीक नहीं है।'[१४]

अधिकांशतः यह कहा जाता है कि गांधीजी 'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के अर्थ में ही करते हैं। परन्तु उपर्युक्त निरूपण में गांधीजीने 'जाति' शब्द का प्रयोग भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले सैंकडों जातिसमूहों के अर्थ में ही किया है।

मई १९२० में गांधीजी ने सी. एफ. एण्ड्रयूझ को 'विवाह और जातिप्रथा' के सम्बन्ध में दोनों के अभिप्राय में मूल अन्तर था यह स्पष्ट करते हुए लिखा,

'जिस प्रकार एक भाई का बहन के साथ विवाह करना अनुचित है उसी प्रकार एक व्यक्ति का अपनी जाति के बाहर विवाह करना अनुचित होगा। जाति का बंधन होगा तो एक जाति के पुरुषों और स्त्रियों को अन्य जाति के पुरुषों और स्त्रियों के प्रति अनुचित दृष्टिक्षेप से बचाना संभव होगा... ठीक से संचालित किया जाए तो जातिसंस्था एक उपयोगी संस्था है। अस्पृश्यता ही मानवजाति और ईश्वर के प्रति महाअपराध है। जाति का तो मैं सुधार कर दूंगा। परन्तु अस्पृश्यता का तो नाश करना ही पडेगा। मणिलाल अगर हरिजन लडकी के साथ प्रेम करता है तो उसकी पसंद के प्रति मेरी आपत्ति नहीं होगी, परन्तु मैं कहूंगा कि उसने मेरी शिक्षा

ग्रहण नहीं की है। विवाह के मामले में उसका मेरी जाति या उपजाति से ही सन्तुष्ट होना मुझे उचित लगेगा। इसका कारण अन्य जातियों के प्रति घृणा या अरुचि नहीं है परन्तु इस विषय में वह आत्मसंयम वरते यही मेरी अपेक्षा होगी। यही तर्क जाति संस्था को भी लागू है। जाति से अशुद्धियां निकालकर उसे परिष्कृत कर देने पर वह हिन्दू धर्म की रक्षा करनेवाला मजबूत किला बन जाएगी। इस संस्था की जड़ें मानव स्वभाव में गहरी उतरी हुई हैं।'[१५]

परन्तु यह लिखने कुछ ही समय बाद गांधीजी के अभिप्राय में बदल दिखता है। दिसम्बर १९२० में उन्होंने 'यंग इण्डिया' में 'जातिप्रथा' विषयक लेख लिखा। उन्होंने लिखा,

'मुद्दे ध्यान देने योग्य हैं और उनका उत्तर देना जरूरी है। उनका कहना है कि वर्णव्यवस्था कायम रखने से हिन्दुस्तानका सर्वनाश हो जायेगा; और जातपाँत के कारण ही हिन्दुस्तान गुलाम हुआ है। मेरी नजर में हमारी आज की गिरी हुई हालत की जड़में हमारा जातपाँत का भेद नहीं है। हमारे गले में गुलामी का तौक इसलिए पड़ा कि हमने लालच के वशमें होकर मूलभूत गुणों की उपेक्षा कर दी। मैं तो यह मानता हूँ कि वर्णव्यवस्था ने ही हिन्दुत्व को छिन्निभिन्न होने से बचाया है।'

परन्तु इन शब्दों में जातिप्रथा की प्रशंसा करने के बाद उन्होंने आगे लिखा,

'लेकिन दूसरी प्रथाओं की तरह ही यह प्रथा भी बहुत से अस्वस्थ और अनावश्यक रीतिरिवाजों का शिकार बन गई है। मैं समाज के सिर्फ चार बड़े विभाजनों को ही मूलभूत, कुदरती और जरूरी मानता हूँ। बेशुमार उपजातियों से कभी कभी कुछ लाभ भी होता है, लेकिन अक्सर तो उनसे अड़चन ही पैदा होती है। ऐसी उपजातियाँ जितनी जल्दी एक हो जाएँ उतनी ही समाज की भलाई है। उपजातियोंके चुपचाप बनने और बिगड़ने का सिलसिला शुरूसे चला आ रहा है, और आगे भी चलता रहेगा। इस समस्या के समाधान के लिए हम सामाजिक दबाव और लोकमतपर भरोसा कर सकते हैं। लेकिन मैं मौलिक वर्णविभाजनों को तोड़ने की किसी भी कोशिश के खिलाफ हूँ।'[१६]

मई १९२० में उन्होंने सी. एफ. एण्ड्रयूझ को लिखा कि मणिलाल यदि अन्य ज्ञाति की कन्या के साथ विवाह करता है तो उनका अर्थ यह होगा कि वह अपने पिता के संस्कार ग्रहण नहीं कर सका है। परन्तु दिसम्बर १९२० में उन्होंने सार्वजनिक रूप में कहा कि चार वर्णों का आपस में समन्वय होकर एक ही वर्ण

बनना चाहिये और यह बहुत जल्दी होना चाहिये। केवल छह मास में इतना परिवर्तन कैसे हो गया यह जानने समझने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। ऐसा लगता है कि वे जातिप्रथा की प्रशंसा तो करते थे परन्तु उनके मन में कहीं उसके सम्बन्ध में संशय भी था।

मई से लेकर दिसम्बर के दौरान महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में चलनेवाला ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर का विवाद उनके समक्ष आया था। उन्होंने यह भी देखा था कि छोटी जातियां राज्य के दबाव में झुक जाती हैं। उनके अभिप्राय में आमूल परिवर्तन होने का सम्भवतः यह भी एक कारण हो सकता है। उनके उपर पश्चिमपरस्त और रूढिवादी दोनों प्रकार के हिन्दुओं का दबाव बना हो। रूढिवादी हिन्दू तो वर्णाश्रमधर्म का पक्षपाती था। परन्तु इसके बाद वे वर्णाश्रम व्यवस्था के सन्निष्ठ तरफदार बन गये और जातिप्रथा की प्रशंसा करना उन्होंने छोड दिया।

सन् १९३२-३३ में गांधीजी सरदार वल्लभभाई पटेल और महादेवभाई देसाई के साथ यरवडा कारागृह में थे। तीनों में अनेक विषयों को लेकर चर्चा होती थी। महादेवभाई देसाई सन् १९१८ से गांधीजी से जुडे थे। तभी से वे दैनन्दिनी लिखते थे। उसमें इस चर्चा को स्थान प्राप्त हुआ है। इस दैनन्दिनी का प्रकाशन तीन खण्डों में हुआ। उसमें यह चर्चा भी प्रकाशित हुई है। इस दैनन्दिनी के सम्पादक और प्रकाशक नरहरि परीख हैं। इसके तृतीय खण्ड में सुदीर्घ प्रस्तावना सहित यरवडा कारागृह की 'वर्ण' और 'जाति' सम्बन्धी भी चर्चा निरूपित है।

इस चर्चा में वे कहते हैं,

'अर्थात् वर्तमान जातियां निरस्त होकर वर्णव्यवस्था की स्थापना होने से ही हिन्दू समाज में नई चेतना आएगी ऐसा गांधीजी का अभिप्राय है। वर्णव्यवस्था का वे क्या अर्थ करते हैं उसकी स्पष्टता उन्होंने अलग अलग लोगों के साथ चर्चा करते समय की है। उनका प्रथम मुद्दा यह है कि वर्ण व्यवसायों से सम्बद्ध होंगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार मूल वर्ण हैं। परन्तु व्यवसाय के अनुरूप वर्णों की संख्या बढाई जा सकती है। व्यवसाय का भी मुख्य नियम यह है कि उसका सम्बन्ध जन्म से हो। अर्थात् पिता का व्यवसाय अपनाना पुत्र का कर्तव्य होगा।'[१७]

इच चर्चामें गांधीजीने कहा,

'वर्णाश्रम धर्म का सम्बन्ध अगर जन्म से नहीं होगा तो मैं आज ही वर्णाश्रमधर्म छोड दूंगा। उसमें फिर रखा क्या है ? सुतार का पुत्र सुतार ही होगा, लोहार नहीं। मैं उसी को उचित मानूंगा। इस प्रकार अगर सैंकडों जातियां होती हैं तो होने दो।

उनके बीच रोटी बेटी व्यवहार बना रहता है तब संख्या की सीमा होने से कोई नुकसान नहीं है। इस रोटीबेटी के बंधनों से ही सारा कष्ट बढा दिया है।

द्रोणाचार्य धर्मभ्रष्ट हुए थे यह मैं अवश्य कहूंगा। मेरा कहना यह नहीं है कि एक वर्ण के मनुष्य को दूसरे वर्ण के काम करने का अधिकार नहीं है। परन्तु वह अनुचित है। वर्णाश्रम धर्म सभी के लिए है। उसका पालन आकस्मिक रूप से नहीं अपितु सार्वत्रिक रूप से नियमपूर्वक होना चाहिए। उसका पालन हिन्दुओं ने करना चाहिए और मुसलमानों ने भी करना चाहिए। उसी अर्थ में मैंने कहा था कि हिन्दू धर्म के द्वारा मानवजाति को दी गई यह सब से बड़ी भेंट है। इस धर्म के पालन से समस्त समाज की रक्षा होगी। समाज अजित बन जाएगा।'[१८]

इसके पूर्व गांधीजीने कहा था,

'रोटी बेटी के व्यवहार पर प्रतिबंध नहीं है तो उसे वर्णव्यवस्था कहने से या जातिव्यवस्था कहने से कोई अन्तर नहीं पडता। यह बहुत मूल्यवान व्यवस्था है।'[१९/१]

परन्तु कुछ ही दिन बाद उन्होंने महादेव देसाई से कहा,

'ठीक है, करोडों लोग अपने वर्ण से बाहर जाकर तो विवाह करनेवाले नहीं है ? परन्तु जो बाहर जाकर विवाह करता है वह अधर्म का आचरण करता है ऐसा नहीं माना जाना चाहिए। अधर्म वर्ण के साथ जुडा हुआ व्यवसाय त्यागने में है, विवाह करने में नहीं... अपने कर्म का त्याग ही संकर है, वर्णों की मिलावट अर्थात् वर्णसंकर।'[१९]

जुलाई १९४६ में गांधीजी वर्णाश्रम विषयक अपने अभिप्राय में इतने दृढ थे कि उन्होंने घोषणा की, 'यदि मैं १२५ वर्ष जीवित रहूंगा तो समस्त हिन्दू समाज मेरे अभिप्राय को स्वीकृति देता है यह देखूंगा।'[२०]

यह बहुत महत्त्वपूर्ण कथन है। २१ वर्ष पूर्व मार्च १९२५ में श्री नारायण गुरु के साथ वार्तालाप करने के बाद उन्होंने कहा था,

'स्वामीजीने कल मुझसे कहा कि हो सकता है कि शायद हम अपने जीवनमें, इस पीढ़ीमें इस दुःखका अन्त न देख सकें, और सम्भवतः मुझे इस दुःखद स्थिति का अन्त देखने का सुख अगले जन्मसे पहले न मिले। मैंने आदरपूर्वक उनसे असहमति प्रकट की। मैं इसका अन्त इसी युगमें और अपने जीवनकाल में ही देखने की आशा रखता हूँ, लेकिन बिना आपकी सहायता के नहीं।'[२१]

गांधीजी यदि १२५ वर्ष जीवित रहे होते तो विभिन्न रूप धारण कर समाज

में प्रवर्तमान अस्पृश्यता को उन्होंने पूर्ण रूप से नाबूद कर दिया होता। हिन्दू समाज की पुनर्रचना करने में वे यशस्वी हुए होते।

समापन

विभिन्न विषयों पर गांधीजी के अभिप्राय पढकर अवश्य समझमें आता है कि सामाजिक और तान्त्रिक व्यवस्थाओं के सम्बन्धमें गांधीजी के अभिप्राय कट्टर नहीं थे। उनके लिये वर्तमान स्थिति का सन्दर्भ सब से अधिक महत्त्वपूर्ण था। इस सन्दर्भ का स्वीकार करने पर अभिप्राय में परिवर्तन भी आ सकता है। परन्तु यह परिवर्तन समाज के हितमें होना चाहिए। गांधीजी की आधारभूत मान्यताएँ सन्दर्भों के अनुरूप परिवर्तित होनेवाली बातों पर आधारित नहीं थीं, अपितु 'हिन्द स्वराज' में तथा अन्य लेखन में जो तथ्य प्रस्तुत हुए थे उनके उपर प्रतिष्ठित थीं। उदाहरण के लिये आधुनिक टैकनोलॉजी और भारतीय समाज की मूल ग्रामीण रचना का आपसी सम्बन्ध और आधाररूप उत्पादन और कार्यकलाप उनके अभिप्रायों के लिये आधारभूत बातें थीं।

गांधीजी के सम्बन्ध में एक धारणा प्रचलित है कि वे उत्तर समय में जो कहते और करते थे उसीको सही मानते थे। अप्रैल १९३६ में उन्होंने जो कहा था उस कारण से यह धारणा बनी थी। रोटी बेटी व्यवहार विषयक उनके अभिप्रायों में जो विरोधाभास दिखाई देता था उसकी ओर किसीने उनका ध्यान आकर्षित किया तब उन्होंने कहा था कि आध्यात्मिक दृष्टिसे भ्रातृभाव बढाने के लिये वे इसे उपयोगी मानते नहीं हैं। तो भी उन्हें लगता है कि नियन्त्रणों की अत्यधिकता किसी भी समाज के विकास में अवरोध रूप बनती है। अपने विचारों का समापन करते हुए उन्होंने कहा,

'इतना कहने के बाद मेरे लेखों का अध्ययन करनेवालों को अथवा रुचि रखनेवालों को मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि मुझे हमेशा एकरूप ही दिखने की कोई उत्सुकता नहीं है। सत्य की खोज करते हुए मैंने अनेक विचारों का त्याग किया है। बहुत सी बातें सीखा भी हूं। आयु से तो अब मैं वृद्ध हुआ हूं परन्तु मेरा आन्तरिक विकास रुक गया है या देहत्याग करने के बाद भी रुक जाएगा ऐसा मुझे नहीं लगता है। मुझे एक ही बात की परवाह है। वह है प्रतिक्षण सत्यनारायण की वाणी का अनुसरण करने की तत्परता। अतः किसी को अगर मेरे दो लेखों में परस्पर विरोध दिखता है, और अगर उसे मेरी विवेकबुद्धि में श्रद्धा है तो एक ही विषय के दो लेखों

में परवर्ती लेख प्रमाण माना जाए।'[२२]

गांधीजी कहना चाहते हैं कि उनके अभिप्राय में परिवर्तन तो प्रभु की इच्छा के अनुसार होते हैं। आधुनिक पश्चिम के समान वह एकरेखीय नहीं होता है। विभिन्न प्रकार के अभिप्रायों का लेखाजोखा करने के वाद हो सकता है कि गांधीजीने स्वयं अपनी भूमिका में परिवर्तन किया हो। उनकी अनुगामी पीढी ने उनके शब्दों को नहीं पकडना चाहिये, अपनी बुद्धि और पद्धति का उपयोग कर स्वयं समस्याओं के निराकरण का प्रयास करना चाहिये।

सन्दर्भ

१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड २३, पृ. ९७-१०२, गांधीजी कारावासमें गये तब १८-३-१९२२ को 'मांचेस्टर गार्डीयन' के पत्रकार के साथ वार्तालाप
२. सेवाग्राम आश्रम प्रतिष्ठान : श्री चिमनलाल शाह की टिप्पणी पुस्तिका, क्र. १७, छिटपुट उत्तर, पृ. १७२-१९०, 'ब्रह्मचर्य' (सेगांव) ६-६-१९३८; सम्भवतः चिमनलाल के स्वहस्ताक्षर में; 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६७, पृ. १३०, ११-६-१९३८ का गांधीजी का जमनालाल बजाज को पत्र। 'मैंने अंग्रेजी समाचार पत्र के लिये पत्र तो लिखा है परन्तु अभी तक प्रकाशित नहीं किया है... और प्रकाशित करने की जल्दी भी करनेवाला नहीं हूं।' इस पृष्ठ की पादटीप २ कहती है, 'गांधीजीने 'हरिजन' के लिये अपने निश्चय विषयक लेख लिखा था, परन्तु कुछ आश्रमवासियों को यह सब पसन्द नहीं है अतः उसे प्रकाशित नहीं किया है।' इस विषय में महादेव देसाई और जमनालाल बजाज का भी पत्रव्यवहार हुआ है। एक पत्र १२-६-१९३८ का है। उपर्युक्त लेख गांधीजी के हस्ताक्षर के साथ समाप्त होता है। आज आश्रम में यह पुस्तिका उपलब्ध नहीं है। सन् १९८४ में वह मुझे मिली थी। मैंने पढी और उसकी नकल उतार ली।
३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १०, 'हिन्द स्वराज'
४. आई ओ एल, ८-१२-१८९३ का रानी विकटोरिया का गवर्नर जनरल लॉर्ड लैन्सडाउन को पत्र
५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. १-३, ९-१०-१९१७ का बेतियामें गोरक्षा विषयक भाषण
६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ६९-७२, ११-११-१९१७ का मुझफ्फरपुर का भाषण
७. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १९, पृ. ८०-८१, ८-१२-१९२० का बेतिया गोशाला का भाषण
८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १०, 'हिन्द स्वराज'
९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ७७-७८, १४-११-१९७७ का जे. एल. मेरीमन मोतीहारी को पत्र

१०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, पृ. ४६-६०, ३-११-१९१७ का राजकीय परिषद गोधरा में भाषण
११. वही
१२. 'महादेवभाई की दैनन्दिनी,' १९४८, खण्ड १, २५-५-१९३२; १९५३ में प्रकाशित दैनन्दिनी के अंग्रेजी अनुवाद से गांधीजी का यह कथन हटा दिया गया है। अहमदाबाद कोंग्रेस की पूर्व संध्या को गांधी रीडींग मन्त्रणा हुई थी। इसका उल्लेख करते हुए पट्टाभि सीतारामैया लिखते हैं, 'साथ ही चित्तरंजन दास आशा करते थे कि अंग्रेजों के साथ किसी प्रकार का समझौता हो सकेगा। केवल एक वर्ष पूर्व, वे जब दक्षिण भारत में यात्रा कर रहे थे तब चैन्नाई में उन्होंने कहा कि गांधीजी ने खेल बिगाड दिया।' 'भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस का इतिहास', खण्ड १, १८८५ से १९३५, पृ. २८१-२८२ (अंग्रेजी)
१३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २५६-५७, ५-६-१९१६ का जातिप्रथा विषयक अहमदाबाद में भाषण
१४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, 'भारत सेवक', (मराठी)
१५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १७, पृ. ४७९-४८१, सी. एफ. एण्डुझ को पत्र
१६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १९, पृ. ७४-७६, 'यंग इण्डिया' में जातिप्रथा विषयक लेख, दिसम्बर १९२०
१७. नरहरी परीख, महादेव देसाई की दैनन्दिनी १९३२-३३, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, खण्ड ३; प्रस्तावना में नरहरि परीखने गांधीजी के 'वर्ण' और 'जाति' विषयक विचारों का सार दिया है। खण्ड १, १०-३-१९३२ से ४-९-१९३२, दिसम्बर १९४८; खण्ड २, पृ. ९-१९३२ से १-१-१९३३, अप्रैल १९५०; खण्ड, २-१-१९३३ से २०-८-१९३३, जुलाई १९५१
१८. वही, खण्ड ३, १८-२-१९३३ पृ. १५३
१९. वही खण्ड ३, १२-३-१९३३ पृ. १८६
२०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८५ २०-७-१९४६, पंचगनी में हरिजन सेवक संघ के सदस्यों के साथ वार्तालाप
२१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड २६, १३-३-१९२५, 'एझवास' भाषण का प्रत्युत्तर
२२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ५५, विसंगतियां

६. गांधीजी का लक्ष्य

गांधीजी और कस्तूरबा ९ जनवरी १९१५ को दक्षिण अफ्रीका से मुम्बई आये। एक या दो दिन बाद ही मुम्बई के पत्रकारों के सम्मुख उन्होंने कहा, 'मैं शेष जीवन भारत में ही बितानेवाला हूं और मातृभूमि की सेवा करनेवाला हूं।'[१] और ठीक वैसा ही हुआ। आये उसी दिन से लेकर ३०-१-१९४८ को उनकी हत्या हुई तब तक वे केवल एक बार विदेश गये। वह भी १९३१ में लन्दन में आयोजित द्वितीय गोलमेज परिषद में सहभागी होने के लिये चार मास। ३३ वर्षों के इस दीर्घ कालखण्ड में कुल मिलाकर छह वर्ष वे कारावास में रहे, कुल सात वर्ष साबरमती आश्रम में रहे और छह वर्ष वर्धा आश्रम में रहे।[२] शेष समय में अर्थात् चौदह वर्ष उन्होंने भारतभ्रमण किया। प्रारम्भ में वह भारत का परिचय प्राप्त करने के लिये था, अकेले ही रोलेट सत्याग्रह की तैयारी के लिये था, खादी और स्वदेशी के प्रचार के लिये था, हरिजनों के लिये था, हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये था, या फिर जहां उनकी उपस्थिति आवश्यक और अनिवार्य थी ऐसे असंख्य कामों के लिये था। तैंतीस वर्षों में वे जहां गये उन स्थानों की संख्या कदाचित् २००० से भी अधिक होगी।[३]

गांधीजी के भारत में पुनरागमन का सामान्य जन और अभिजन दोनों ने स्वागत किया। उनकी विभिन्न स्थानों की मुलाकात को समाचारपत्रों के अग्रलेखों में स्थान प्राप्त हुआ। समाचारपत्रों ने उनका विस्तार से वर्णन भी किया। उनका पुनरागमन अनेक लोगों के लिये चिरप्रतीक्षित युगपुरुष के अवतार के समान था। उद्योजक, श्रेष्ठी, गवर्नर काउन्सिल के सदस्य, न्यायाधीश समेत मुम्बई के अभिजनों ने सैंकडों की संख्या में उपस्थित होकर गांधीजी और कस्तूरबा का अभूतपूर्व स्वागत किया।[४] कुछ ही दिनों में उनकी गाडी के घोडे छोडकर लोग स्वयं उनकी गाडी खींचने के लिये तत्पर हो उठने लगे। १७ जनवरी और १३ फरवरी को राजकोट में, १२ मार्च को कोलकातामें, १७ मार्च को रंगून में, १७ अप्रैल १९१५ को चैन्नई में यही हुआ था।[५] अनेक स्थानों पर गांधीजी ने उनको ऐसा करने से मना किया। वे स्वयं गाडी से उतर कर पैदल चलने लगे।

प्रारम्भ के दिनों में उनकी सार्वजनिक सभाएँ विभिन्न राज्यों के महाअमात्यों की अध्यक्षता में सम्पन्न होती थीं। काठियावाड के जिन राजाओं की उन्होंने भेंट की उन सभी ने प्रतिभेंट भी की। २४ जनवरी की एक सार्वजनिक सभामें गोंडल के राजाने उनको आलिंगन दिया। एक सार्वजनिक सभामें रानी की अध्यक्षतामें कस्तूरबा ने भाषण दिया।[६] २१ जनवरी १९१५ को जेतपुर में एक लिखित एवं मुद्रित भाषण में उनका 'श्रीमान् महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी' जैसे आदरसूचक शब्दों में उल्लेख किया गया। २७ जनवरी के एक वृत्त के अनुसार गोंडल में उन्हें 'जगत वन्दनीय महात्मा' कहा गया।[७] वहीं गोंडल में उन्हें 'कर्मवीर महात्मा गांधी' के रूप में सम्मानित किया गया।[८] मार्च में गुरुकुल कांगडी में उनके लिये फिर 'महात्मा' का सम्बोधन प्राप्त हुआ।[९] ये दोनों स्थान भारतीय विद्या के पवित्र केन्द्र थे। पुनः १० अप्रैल को कांगडी में उन्हें 'महात्मा' कहा गया। १९१७-१८ तक उन्हें ग्रन्थों में, पुस्तकों में लिखित रूप से कहीं पर भी 'महात्मा' के रूप में उल्लिखित नहीं किये जाने पर भी भारत में आने के एक ही वर्ष के अन्दर सर्वसामान्य रूप से वे 'महात्मा' कहे और माने जाने लगे।

गांधीजी का प्रथम वैशिष्ट्य २० वर्ष तक दक्षिण अफ्रीका में चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलन के सिद्धान्त और व्यवहार के प्रणेता के रूप में था। दूसरा 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त किये गये उनके विचार में था। इन दोनों बातों से भी बढकर उनकी सादगी, उनका व्यवहार और उनकी भाषा का कुछ ऐसा प्रभाव था कि लोग उन्हें सन्त मानने लगे, उनके प्रति आकर्षित हुए और उनकी गाडी खींचने के लिये भी तत्पर हो उठने लगे। अन्याय का प्रतिकार करने की उनकी पद्धति ने भारतीय परम्परा के अनुरूप ही होने के कारण से लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त कर लिया।[१०] यह पद्धति एक अरसे से विस्मृत हो गई थी। इसे फिर जीवन प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं तो दक्षिण अफ्रीका में आधुनिक, अत्याचारी और शक्तिसम्पन्न सरकार का प्रतिकार करने में भी उसने यश प्राप्त किया यह देखकर लोग गांधीजी को समर्थ पुरुष मानने लगे।

१९१५ में भारत में दो प्रमुख पक्ष थे। एक था दबा हुआ, शासित जनसामान्य, जिसकी समझ में नहीं आता था कि खोया हुआ व्यक्तिगत और सामुदायिक गौरव किस प्रकार वापस प्राप्त किया जाए। दूसरा था अंग्रेज शासक वर्ग जो दृढतापूर्वक मानता था कि भारत का निर्माण शताब्दियों तक उनके आधिपत्य में रहने के लिये ही हुआ है। यद्यपि भारत में उस समय अन्य भी वर्ग, समूह,

सामाजिक आन्दोलन आदि थे परन्तु उन सबका कार्य समानान्तर चलता था। एक ओर तो उनके कारण से समाज का विघटन होने का संकट निर्माण होता था, दूसरी ओर शासक वर्ग के ऊपर उनका प्रभाव नहीं के बराबर था।

परन्तु, १९१६ से तीन नये चरित्र रंगमंच पर आये। एक थे गांधीजी स्वयं। उनके भारत में आने के एक या दो ही वर्ष के भीतर भारतीयों के मन में श्रद्धा बन गई कि उनके भाग्यविधाता का आगमन हुआ है। दूसरा चरित्र था रूपान्तरित भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस। सन् १९२० तक काँग्रेस में इस प्रकार का रूपान्तरण हो गया था कि वह अब नवजाग्रत राष्ट्रवाद का प्रखर राजकीय आयाम बन गई थी और अंग्रेजों के द्वारा प्रेरित कानून की अदालत, शिक्षासंस्थाओं, नागरिक सेवाओं, सैन्य आदि सार्वजनिक व्यवस्थाओं का बहिष्कार करने का और वैकल्पिक ढांचे निर्माण करने का साहस उसमें पैदा हो गया था। असंख्य राष्ट्रीय विद्यालय एवं विद्यापीठों की रचना हुई। १९२१ तक काँग्रेस की सामान्य सदस्य संख्या ५० लाख हो गई।[११] यह संकेत नवप्राप्त साहस का ही था। तीसरा चरित्र था गांधीजी के द्वारा अच्छी तरह से प्रशिक्षित, अनुशासित, तपस्वी मानसिकता से युक्त स्त्रियों और पुरुषों का, निरन्तर वृद्धिंगत, विशाल अनुयायी समूह। इस वर्ग का गठन गांधीजी ने स्वयं किया था। यह समुदाय देशव्यापी था। वह गांधीजी के आदेशों का पालन करने के लिये तत्पर था।

एक ओर भारतीय जनसमाज तथा दूसरी ओर अंग्रेज शासन - इन दोनों के सन्दर्भ में इन तीनों चरित्रों की आपसी क्रिया प्रतिक्रिया और भाव प्रतिभावों का तानाबाना भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की आकांक्षाओं एवं आन्दोलन की पूर्ण कथा है। गांधीजी ने इन आकांक्षाओं को वाणी दी थी, इस आन्दोलन की दिशा निर्धारित की थी। अतः तीन दशकों तक वे रंगमंच पर नायक की भूमिका में रहे। समय समय पर उन्होंने जो कहा और किया उसकी आलोचना करनेवाले लोग भी थे और वे भी अनुपेक्षणीय थे। गांधीजी स्वयं भी कभी कभी साहस खो बैठते थे।[१२] ऐसे क्षणो में वे सार्वजनिक रूप से पश्चात्ताप करते और दिशा बदलते थे। अपनी हिमालय सरीखी गलतियों को कबूल करते थे, पुनः साहस प्राप्त होने तक स्वयं की परीक्षा करते थे और इस प्रकार नवजीवन प्राप्त कर पुनः अपनी भूमिका निभाने के लिये सिद्ध हो जाते थे।

तीन दशकों के इस पुरुषार्थ का ठोस परिणाम था अंग्रेजों की गुलामी से भारत की मुक्ति। परन्तु इस भव्य परिणाम के साथ अत्यन्त करुण परिस्थिति भी

थी। स्वतन्त्रता तो स्वागतयोग्य थी परन्तु उसका स्वरूप अत्यन्त नैराश्यजनक था। जिस आधारभूमि के ऊपर गांधीजी ने स्वतन्त्रता संग्राम की रचना की थी उस आधारभूमि को ही नष्ट कर देनेवाली घटनाएँ घटीं। यश प्राप्त हुआ वह भी एक आश्चर्य ही था। अंग्रेज भारत छोड़कर गये इतना ही नहीं तो भारतीयों में आत्मसम्मान की भावना जाग्रत हुई - विशेष रूप से १९२० और १९३० के दशक में - और आज तक के पीडित, शोषित लोगों में राजकीय जागृति आ गई। यह कोई सामान्य उपलब्धि नहीं थी।

इस प्रकार, भारत के इतिहास की दृष्टि से इस कालखण्ड का उचित रूप में मूल्यांकन होने की आवश्यकता है। इसके तानेबाने की जटिल जाल की रचना ठीक समझ में आने की आवश्यकता है। साथ ही गांधीजी का मानस भी समझ में आना आवश्यक है। क्यों कि सारी घटनाओं के सूत्रसंचालन करनेवाले वे ही थे। लगभग तीस वर्षों तक लाखों की संख्या में लोग उनका अनुसरण करते थे। यह अनुसरण राजकीय गतिविधियों में भी था और दैनन्दिन छोटे मोटे कार्यों में भी था। रचना करने में, योजना करने में, निर्णय प्रक्रिया में लोगों का भी प्रभाव गांधीजी पर अवश्य होता था तो भी लोग इस स्वतन्त्रता संग्राम में स्वैच्छिक रूप में सिपाही ही बने हुए थे। ये सिपाही और उनका सूत्रसंचालक, दोनों ही एक महाशक्ति ही नहीं तो समस्त विश्व के परिदृश्य के विरुद्ध संग्राम में उतरे हुए थे।

महात्मा गांधी का दीर्घ और कार्यरत जीवन चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम चरण था सन् १८८९ से १८९१ के दो या तीन वर्ष का इंग्लैंड का और १८९३ से १९१४ के २१ वर्ष का दक्षिण अफ्रीका का निवास। इस कालखण्ड में उनकी विश्व की रचना और व्यवहार को जानने समझने की दृष्टि का विकास हुआ। इस अवधि में उन्होंने ब्रिटिश और दक्षिण अफ्रीका के गोरे लोगों के राज्य और समाज को समझने का प्रयास किया। साथ ही पाश्चात्य समाज में जीवन व्यतीत करनेवाले भारतीय और अन्य काले लोगों के साथ गोरों का जो अत्याचार पूर्ण व्यवहार था उसका प्रतिकार करने की स्वयं की पद्धति का प्रयोग और परीक्षण करने का अवसर भी उन्हें प्राप्त हुआ।

दूसरा चरण है सन् १९१५ से १९१९ का। इस कालखण्ड में वे भारत को समझने के प्रयास में रत दिखाई देते हैं। भारतीयों के मानस और स्वभाव को जानने और उस आधार पर अपने अभिमतों को रूप देने की ही इस अवधि में उनकी प्रमुख

प्रवृत्ति रही है। कहा जा सकता है कि पांच वर्ष के इस कालखण्ड में ही भारत की नवजागृति के लिये एक आधारभूत ढांचे की रचना करने के विषय में अपने विचारों को उन्होंने स्पष्ट और ठोस रूप दिया। अब वे स्वदेशी को पडोसीधर्म का पर्याय मानने लगे,[१३] विदेशी भाषा के रूप में अंग्रेजी को नकारने लगे और भारत के लोगों ने अपनी अपनी प्रान्तीय भाषा का उपयोग अपने व्यवहार में करना चाहिये ऐसा आग्रह करने लगे।

तीसरा चरण है सन् १९२० से १९४२ का। इस अवधि में उन्होंने अपनी कल्पना को ठोस और मूर्त स्वरूप देने के लिये पुरुषार्थ किया। समयानुक्रम में अनेक गतिविधियों और संस्थाओं के रूप में इस कल्पना का विस्तार हुआ। चौथा और अन्तिम चरण है १९४४ से ३० जनवरी १९४८ तक का। इस अवधि में गांधीजी को अपेक्षित और इष्ट परिणाम प्राप्त नहीं हुए। उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में जो चित्र प्रस्तुत किया था वह लगभग मिट गया था। अंग्रेज भारत छोडकर गये परन्तु भारत पर अंग्रेजों की पकड स्थायी बन गई। ऊपर से भारत का विभाजन हो गया। हिन्दुओं और मुसलमानों में दूरी बढ गई। भयानक रक्तपात हुआ।

प्रथम चरण १८८९ से १९१४

गांधीजी को बहुत छोटी आयु में ख्याति प्राप्त हुई। सन् १९०९ में जोसेफ डोकने उनका जीवन चरित्र प्रकाशित किया। उसका शीर्षक था 'गांधी : दक्षिण अफ्रीका के एक भारतीय देशभक्त (गांधी : इण्डियन पैट्रिअट इन साउथ अफ्रीका, Gandhi : An Indian Patriot in South Africa)।' दिसम्बर १९०९ में ही उन्होंने स्वयं की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक की रचना की। पुस्तक थी 'हिन्द स्वराज'।

गांधीजी स्वयं किसी प्रकार का अन्याय नहीं सह सकते थे। अतः अवसर आते गये और अन्याय का प्रतीकार करने के विषय में दक्षिण आफ्रीका के भारतीयों के वे सहज रूप में नेता बन गये। उन्होंने लोगों को भय छोड़कर अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिये साहसी बनने की प्रेरणा दी। प्राचीन समय से भारत में प्रचलन में रहनेवाली शान्त प्रतिरोध की पद्धति को उन्होंने पुनः व्यवहार में लाने का प्रयोग किया और उसे नाम दिया 'सत्याग्रह'। 'पहला गिरमिटिया' नामक हाल ही में हिन्दी में प्रकाशित पुस्तक में बीस वर्ष के इस संघर्ष का तादृश निरूपण हुआ है।[१४]

अपने भारतीय साथियों को साथ लेकर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष चलाया। साथ ही दक्षिण अफ्रीका और इंग्लैण्ड के

सत्ताधीशों के समक्ष भारतीयों के लिये न्याय प्राप्त करने हेतु उन्होंने तर्क देना भी जारी रखा। उस समय के मद्रास प्रेसीडेन्सी के गवर्नर लॉर्ड एम्प्टहिलने दक्षिण आफ्रीका की यूरोपीय सरकार के प्रतिनिधि जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा था जिस में सरकार के साथ मन्त्रणा करते समय गांधीजी का जो सैद्धान्तिक आधार था उसकी स्पष्टता की है। उसने लिखा, 'कल अपराह्न में मैं श्री गांधी की भेंट करने गया और आपकी सूचना के अनुसार मैंने उनके साथ बात की, परन्तु ये सूचनायें आपकी ओर से थीं यह मैंने बताया नहीं है। मैंने देखा कि आप दृष्टिकोण के विषय में जितने स्पष्ट हैं उतने ही गांधी भी अपने दृष्टिकोण में स्पष्ट और श्रद्धावान हैं। हंमने दो घण्टे बात की। हमने व्यावहारिक, राजकीय, कानूनी और नैतिक दृष्टि से प्रश्न की चर्चा की। अन्तमें किसी भी तरह का सन्तोष प्राप्त न कर निराश होकर मैं वापस लौट गया।

श्री गांधी स्वयं जिसे महत्त्वपूर्ण मानते हैं ऐसे सिद्धान्त के लिये लड रहे हैं। मैं मानता हूं कि जिस प्रकार हममें भी कोई अपने धर्म और राजनीति विषयक सिद्धान्त, जिनका पालन हमने जीवनभर किया है, छोड दें यह सम्भव नहीं है उसी प्रकार श्री गांधी भी जिसे वे महत्त्वपूर्ण और न्यायपूर्ण मानते हैं उस कार्य को छोड देंगे यह सम्भव नहीं है। वास्तव में, मुझे तो लगता है कि यह सम्भावना नहीं के बराबर है। क्यों कि हमारे खेमे में भी ऐसे लोग कदाचित् ही होंगे जो सैद्धान्तिक और अप्राप्य अधिकारों को प्राप्त करने के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिये सिद्ध हैं। इस व्यक्ति की प्रशंसा किये बिना रहा नहीं जा सकता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि अपने अन्तरात्मा के आवाज की प्रेरणा को छोड और किसी भी न्यायालय को वे मानते नहीं हैं।'[१५]

सन् १८९३ से १९१४ के दक्षिण अफ्रीका के निवास के कालखण्ड में गांधीजी ने जो कुछ कहा और किया उसने पूरे विश्व को प्रभावित किया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में निवास करनेवाले भारतीय मूल के लोगों को क्रियाशील बनाया। उनमें दक्षिण अफ्रीका के सत्ताधीशों के विरुद्ध मानवीय सम्मान और गौरव के लिये लडने हेतु साहस और स्वमान जगाये। उनके कार्य से उपनिवेशीय देशों में गुलामी में सडनेवाले लोग और राजद्वारी नेता भी आश्चर्यचकित हुए। उन्हें आश्चर्य इस वात का था कि यह नवजाग्रत समुदाय छोटा भी था और निःशस्त्र भी था फिर भी पाश्चात्य विश्व के सम्मुख वह सीधा और डटकर खडा हो गया। जनवरी १५, १९१५ को गांधीजी जब भारत वापस लौटे तव भारत में 'द हिन्दू', 'द लीडर',

'द ट्रीब्यूट' जैसे समाचारपत्रों ने उनके आगमन को लेकर दीर्घ सम्पादकीय लेख प्रकाशित किये और अपने देश को भी वे महान सिद्धि प्राप्त करवायेंगे ऐसी अपेक्षा व्यक्त की।

दूसरा चरण : १९१५ से १९१९

सन् १९१५ में भारत आते ही उन्होंने गोपाल कृष्ण गोखले के परामर्श का स्वीकार करके 'एक वर्ष तक भारत भ्रमण करके, स्वयं अध्ययन कर अपने कार्य की दिशा का निर्धारण करने का विचार किया।'[१६] १९१५ का पूरा वर्ष उन्होंने यात्रा की। पूरे देश का भ्रमण किया। वे शान्तिनिकेतन, कोलकाता, रंगून, हरिद्वार, हृषीकेश, दिल्ली, चैन्नई, मुम्बई और पूणे गये। पूर्ण गुजरात की तो यात्रा की ही। यात्रा में उन्होंने देश और देशवासियों का परिचय प्राप्त किया।

फरवरी, १९१५ में उन्होंने एक वर्ष तक बिना पादत्राण चलने का व्रत लिया।[१७] तीन मास बाद, १९ अप्रैल १९१५[१८] को हरिद्वार में उन्होंने तीन प्रण लिये - '२४ घण्टों में पांच से अधिक चीजें नहीं खाना, सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करना, पांच चीजों में पानी का समावेश नहीं करना परन्तु इलायची और उसी के समान अन्य वस्तुओं का करना; मूंगफली और उसके तेल को एक ही वस्तु मानना।'

वर्ष के अन्त में वे वाराणसी पहुंचे। बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के संस्थापक पण्डित मदन मोहन मालवीय ने उन्हें युनिवर्सिटी के उद्घाटन समारोह में निमन्त्रित किया था। उद्घाटन और उसके उपलक्ष्य में तीन दिन उत्सव चला। वह अत्यन्त भव्य कार्यक्रम था। उसमें युनिवर्सिटी के छात्र तो थे ही, साथ में देश के गणमान्य महानुभाव भी थे। युनिवर्सिटी भवन का शिलान्यास करनेवाले ब्रिटिश वायसरॉय थे, राजा महाराजा थे, राज्यों के राजवी प्रतिनिधि थे और भारत के राजकीय पक्षों के नेता भी थे।

पंडित मदन मोहन मालवीयजी के निमन्त्रण पर गांधीजी ने इस सभा को सम्बोधित किया। अपने भाषण में उन्होंने अंग्रेजी भाषा की आलोचना की और कहा, 'यदि हम अपनी ही भाषामें व्यवहार करते तो आज भारत स्वतन्त्र होता, अपने लोगों को अपनी शिक्षा प्राप्त हुई होती, आज की तरह अपने ही देश में विदेशियों की तरह रहनेवाले शिक्षितों के स्थान पर भारत के हृदय की भाषा बोलनेवाले और समझनेवाले शिक्षित लोग हमें मिलते।' अत्यंत व्यथित होकर उन्होंने नगर, ग्राम, मुहल्लों और मन्दिरों की गंदगी का उल्लेख किया और पूछा, 'यदि हमारे मन्दिर

ही स्वच्छ और खुले नहीं होंगे तो हम अपना शासन कैसे चलायेंगे ?' इस समारोह में महाराजाओं और राजकुमारों के मूल्यवान जवाहरात और आभूषणों का भी प्रदर्शन हो रहा था। वह अत्यन्त भव्य दृश्य प्रस्तुत कर रहा था। परन्तु इस कारण से तो वह अधिक दुःखदायक था। उन्होंने इस बात का सीधा उल्लेख करते हुए कहा कि, 'जब तक यह आभूषण धारण करनेवाले लोग उन्हें उतार नहीं देंगे और देशवासियों को समर्पित नहीं कर देंगे तब तक भारत के भाग्य में मुक्ति नहीं है।' उनके अभिप्राय में भारतको उसकी जनसंख्या के एक तृतीयांश पीडित और शोषित गरीब किसानों के प्रयासों से ही मुक्ति प्राप्त होने वाली है।

अन्त में उन्होंने कहा कि, 'भारत ने यदि विजेता को भी जीतना है, अर्थात् स्वतन्त्र होना है तो उन्हें निर्भय बनना ही पडेगा।' 'अराजकता अथवा छिप छिप कर युक्ति प्रयुक्ति करने से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होगी।' इस बात पर श्रोताओं ने उन्हें रोकने का और बिठा देने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि, 'अभी भी वाराणसी में असंख्य ब्रिटिश जासूस घूम रहे हैं। यह उपस्थिति ही सिद्ध करती है कि अंग्रेजों को हमारा कोई विश्वास नहीं है।' इन जासूसों की उपस्थिति से वे अत्यन्त आहत हुए थे। इस स्थिति में और इतने अविश्वास पूर्ण वातावरण में रहना हर किसी के लिये असहनीय होता है। यह मृत के समान जीने से तो वायसरॉय के लिये वास्तव में मरना अधिक अच्छा है। उनके अभिप्राय में 'हमें स्वशासन कभी दिया नहीं जायेगा, हमें उसे प्राप्त करना होगा।'[१९] उनकी प्रमुख बात यह थी कि भारतीयों ने भारत की वास्तविकता को अपने हृदयों तक पहुंचने देना चाहिये और हृदय से प्रेरित होकर उनके हाथ, पैर, मन, मस्तिष्क आदि ने मुक्ति के लिये सक्रिय बनना चाहिये।

उनके भाषण के कारण सभा में क्षोभ व्याप्त हो गया। श्रीमती एनी बिसन्ट ने उन्हें बैठ जाने का अनुरोध किया। परन्तु श्रोताओं ने उन्हें बोलना जारी रखने की और अपनी बात को स्पष्ट रूप से समझाने की प्रार्थना की। कोलाहल इतना बढ गया कि उनका भाषण पूरा नहीं हो सका। उनके भाषण के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिये कुछ अग्रगण्य लोग सभा छोडकर जाने लगे।[२०]

परन्तु बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में वे जो बोले थे उसी के अनुरूप कार्य करना प्रारम्भ करने में उन्होंने विलम्ब नहीं किया। १९१६ से १९१८ के तीन वर्षो में अपने विचारों को वे निरन्तर रूप से स्पष्ट करते रहे। उनके मुद्दे थे स्वदेशी,[२१] सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी,[२२] प्रान्तो के व्यवहार और शिक्षा के माध्यम के रूप

में प्रान्तीय भाषा,[२३] अस्पृश्यता निवारण,[२४] हिन्दू मुस्लिम एकता[२५] और अनिवार्य रूप से शिक्षा की नई पद्धति।[२६] इस कार्यसूची को क्रियान्वित करने के लिये उन्होंने ठोस कदम उठाना शुरू किया। सन् १९१८ से उन्होंने स्थानीय भाषा के उपयोग का आग्रह करना शुरू किया। इस प्रस्ताव को भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के संविधान में विधिवत् समाविष्ट किया। इस हेतु से उन्होंने भाषानुसार प्रान्तों की कल्पना करके काँग्रेस की रचना की। अस्पृश्यता को निरस्त करने के लिये आन्दोलन किये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन में सामान्य किसानों को शामिल करने में उन्हें यश प्राप्त हुआ। भारतीय समाज को छिन्न विच्छिन्न कर देनेवाली समस्याओं के निवारण हेतु उनमें भी जाग्रति निर्माण की। उनके विचारों का आधार लेकर ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रथम पिछडी जाति पंच और आगे चलकर और पंचों की रचना हुई। इसके परिणाम स्वरूप ब्रिटिश शासनमें जो सर्वथा उपेक्षित और वंचित थे उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा तथा अन्य नियुक्तियों में आरक्षण प्राप्त हुआ।

इन सारे विचारों और कार्यक्रमों का गांधीजी के पूर्व भी अस्तित्व था। भिन्न भिन्न प्रकार से उनकी अभिव्यक्ति भी होती थी। स्वेच्छा से सहन करना, असहयोग करना, अहिंसक प्रतीकार आदि का ऊहापोह सन् १९१५ से पूर्व भी होता था। इसके प्रमुख सूत्रधार थे बाल गंगाधर तिलक।[२७] गांधीजी ने इन्हीं तत्त्वों को नया एवं विशाल अर्थ प्रदान कर व्यापक बनाया। उन्होंने रेलवे में यात्रा करनेवाले लोगों की कठिनाइयों को लेकर रेलवे अधिकारियों के साथ पत्राचार किया।[२८] गुजरात के नागरिकों की समस्याओं में रुचि दर्शाई और साबरमती आश्रम के निर्माण और स्थापनामें मार्गदर्शक की भूमिका अदा की।

चम्पारण्य में नील के उत्पादकों के विरुद्ध किसान विद्रोह (सन् १९१७-१८), खेडा का ना-कर सत्याग्रह (१९१८), अहमदाबाद की कपडा मिल की हडताल (१९१८), ब्रिटिशरों की सहायता हेतु सेना में भर्ती करवाने के प्रयास - इन सभी माध्यमों से असहयोग और आत्मदमन के मार्ग से प्रश्नों को हल करने की अपनी कल्पना को ठोस रूप देकर उनका परीक्षण और मूल्यांकन करने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ। साथ ही अपने विचारों को लोग कितना स्वीकार कर सकते हैं इसकी परीक्षा करने का भी अवसर प्राप्त हुआ।

बडे संघर्ष का समय फरवरी १९१९ में आया। उस समय वे छह मास की लम्बी बीमारी से पुनः स्वस्थ हो रहे थे। युद्ध के कालखण्ड में नागरिक स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण किये गये थे। उनको उठाने का समय आ गया था। तब भारत की

सरकार 'क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट बिल' और 'क्रिमिनल लॉ इमरजन्सी पावल बिल' - संयुक्त रूप में 'रोलेट बिल' - के नाम से नये कानून बनाने की पैरवी कर रही थी। यह तो स्वतन्त्रता देने के स्थान पर और भी अधिक छीनने की बात थी।

इन बिलों का विरोध करने हेतु प्रथम सभा २ फरवरी, १९१९ को मुम्बई में पण्डित मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में हुई। गांधीजी इस सभा में उपस्थित नहीं रह सके अतः उन्होंने अपना पत्र भेजा। पत्रमें लिखा, 'धैर्य और निश्चयपूर्वक बिल का विरोध करना जनता का कर्तव्य है।' उन्होंने यह भी कहा कि, 'मैं यदि बीमार नहीं होता तो बिल के विरोध में आन्दोलन खडा करने में मैं अवश्य सहभागी बनता।'[२९]

इन बिलों के निमित्त ही जैसे कि गांधीजी पुनः सजीवन हुए। ८ फरवरी को उन्होंने मालवीयजी को लिखा, 'मैं आशा करता हूं कि सारे हिन्दी सदस्य समिति छोड देंगे और आवश्यकता पडने पर काउन्सिल भी छोड देंगे और देश में आन्दोलन चलायेंगे।'

उन्होंने आगे लिखा, 'आपने, और अन्य सदस्यों ने कहा है कि यदि रोलेट बिल पारित होगा तो हिन्दुस्तान में पूर्व में कभी नहीं हुआ वैसा अभूतपूर्व आन्दोलन खडा हो जायेगा। लाउसने घोषणा की है कि जो आन्दोलन चल रहा है उसका सरकार को कोई भय नहीं है। उनकी बात सही भी है। हिन्दुस्तान में एक लाख सभायें करने से भी क्या होनेवाला है ?'[३०]

उन्होंने आगे लिखा, 'मैंने निश्चय तो नहीं किया है, फिर भी मुझे लगता है कि सरकार यह विषैला कानून लागू कर देती है तो लोगों को अन्य कानूनों को भी भंग करने का अधिकार अपने आप प्राप्त हो जायेगा।'

अगले दिन, ९ फरवरी को वायसरॉय काउन्सिल के अन्य एक सदस्य वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री को उन्होंने लिखा, 'ब्रिटिश वायसरॉय और अन्य अधिकारियों के भाषणों ने मुझे गहराई तक झकझोर दिया है। मैं अभी बी बिस्तर में पडा हूँ। फिर भी मुझे लगता है कि मैं बिस्तर में लेटे लेटे ही इस बिल की कार्यवाही को देखता रहूँगा यह सम्भव नहीं है।'

आगे कहा, 'यह बिल यदि केवल गौरव और न्याय का ही भंग करनेवाला होता तो मैं इतना व्यथित नहीं होता। परन्तु यह तो दमन का निर्धार करके अपनाई गई निश्चित व्यूहरचना है। जो भी व्यक्तिगत और सामुदायिक स्वतन्त्रता के चाहनेवाले हैं वे सब इस बिल का सभ्यतापूर्ण तरीके से अनादर किये बिना रह ही नहीं सकते

हैं। जहां तक मेरा अपना प्रश्न है इस प्रकार के अमानुषी कानूनों की रचना होती रहेगी तब तक इस कानून बनानेवाली सत्ता के अधीन रहना सम्भव ही नहीं है। जो भी मेरे ही समान अभिप्राय रखते हैं वे मेरे साथ संघर्ष में जुड जाएँ। यह कहते हुए मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं है।'[३१]

उसी दिन गांधीजीने प्रागजी देसाई को लिखा (प्रागजी देसाई उनके दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के साथी थे), 'मैं दो या तीन दिन में निर्णय करूंगा।'[३२]

१२ फरवरी को उन्होंने भारत सरकार को लिखा और दीर्घ काल से अटक किये गये अली बन्धुओं की खबर पूछी। १६ फरवरी को अली बन्धुओं के विषय में जानकारी देते हुए लिखा, 'मैं शीघ्रातिशीघ्र स्वस्थ होने का प्रयास कर रहा हूं। मुझे लगता है कि दिल्ही से उत्तर आते आते तो मैं पुनः कार्य में जुडने के लिये सिद्ध हो जाऊंगा।'[३३]

२० फरवरी को वायसरॉय के निजी सचिव को उन्होंने लिखा, 'मैं अभी भी बिमारी से मुक्त नहीं हुआ हूं।' उन्होंने रोलेट बिल के सम्बन्ध में अपनी भावनां व्यक्त की। इसके उपरान्त पूरे पत्र में अली बन्धुओं के विषय में ही लिखा। पत्र समाप्त करते हुए लिखा, 'मैं उत्सुकता से आपके प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा करूंगा।'[३४]

२३ फरवरी को अपने दक्षिण अफ्रीका के पूर्व सचिव को लिखा, 'भारत की सरकार काउन्सिल के माध्यम से जो कानून पारित कर रही है उसके विरुद्ध शान्त प्रतिकार होगा। कल आश्रम में युद्ध विषयक काउन्सिल की बैठक होनेवाली है।'[३५] अपनी हास्यरसपूर्ण शैली का प्रयोग करते हुए उन्होंने उसी दिन अपने सब से छोटे पुत्र को लिखा,

'सोमवार को सत्याग्रह आश्रम में सत्याग्रह के योद्धाओं की एक सभा होनेवाली है। हरेक के पास कौन कौन से शस्त्र हैं, कितना गोला बारूद है इसकी जाँच पडताल करने के बाद निर्णय होगा। युद्ध के समय रावण ने भी सभा की थी उसका वर्णन शामल भट्ट ने किया है। तुमने उसे अगर पढा है तो महादेव देसाई से सोमवार का इतिहास प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं पडेगी।'[३६]

दूसरे दिन, २४ फरवरी को उन्होंने सत्याग्रह का मसौदा तैयार किया और अपने साथियों को साथ लेकर उस पर हस्ताक्षर किए।[३७] उसी दिन २५० शब्दों का टेलीग्राम वायसरॉय को भेजा, उनको इस मसौदे के विषय में बताया और शीघ्रतापूर्वक उत्तर भेजने की प्रार्थना की।[३८] जिस क्षण के विषय में उन्होंने एक वर्ष पूर्व बताया था वह बहुत जल्दी आ गया :

'हिन्दुस्तान यदि मेरे मन में है वैसा करेगा तो हिन्दी सरकार चोट खाएगी,

हिन्दू मुसलमान पूर्व में कभी नहीं हुए थे उतने एक हो जाएंगे, गोमाता की रक्षा होगी और भूमंडल में अहिंसाधर्म का जयघोष सुनाई देगा।'[३९]

उसके पश्चात् कुछ दिन तक गांधीजी सम्भावित सत्याग्रह की विभिन्न प्रकार की तैयारियों में व्यस्त रहे। १ मार्च को वे मुम्बई पहुंचे। ४ मार्च को दिल्ली पहुंचे। वहां वे वायसरॉय को मिले। वायसरॉय ने उन्हें सत्याग्रह न करने का परामर्श दिया।[४०] उसके बाद वे लखनऊ और इलाहाबाद गये। १३ मार्च को फिर मुम्बई गये। १६ मार्च को मुम्बई से चैन्नई गये। चैन्नई से तंजावुर, त्रिचिनापल्ली और मदुराई गये। मदुराई में मीनाक्षी मन्दिर में दर्शन करने के लिये भी गये। साथ ही तूतीकोरीन, नागापट्टनम् और विजयवाडा भी गये। इस एक मास के दौरान वे जहां भी गये बहुत भारी मैदनीवाली सार्वजनिक सभाएँ हुईं। परन्तु बीमारी के कारण वे इतने दुर्बल हो गये थे कि खडे रहना या बोलना उनके लिये असम्भव था। अतः सभा में उनके लिखित भाषण पढे गये। १९ मार्च को उन्होंने निश्चित किया कि ६ अप्रैल १९१९ को सत्याग्रह शुरू किया जाएगा और उसका प्रारम्भ अनशन, प्रार्थना और हडताल से होगा। दिल्ली में यह कार्यक्रम एक सप्ताह पूर्व, अर्थात् ३० अप्रैल को शुरू हुआ। दिल्ली के लोगों ने अत्यन्त प्रभावी ढंग से पूर्ण हडताल का आयोजन किया था। जामा मस्जिद की सीढियों पर खडे होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने विशाल सभा को सम्बोधित किया।

चार पांच सप्ताह तक चली सत्याग्रह की तैयारी, गांधीजी के आह्वान को प्राप्त उत्स्फूर्त प्रतिसाद और दोनों के परिणामस्वरूप निर्मित सक्रियता को देखकर ब्रिटिश अधिकारी भौचक्के रह गये। बावरे बनकर उन्होंने दिल्ली में पुलीस और सेना दोनों को तैनात किया। गोली चली, कुछेक लोग मारे गये। ब्रिटिशरों की दृष्टि से कहा जाए तो उनके सम्मुख गोली चलाने का कोई विकल्प नहीं था। यदि वे सब चलने देते और कदम उठाने में हिचकिचाते तो वे स्वयं उखड जाते। अतः उत्तेजनावश वे आवश्यकता से अधिक आक्रामक बन बैठे। इसके परिणामस्वरूप जलियांवाला बाग और अन्य स्थानों पर व्यापक नरसंहार हुआ। अंग्रेजों की समझ में ही नहीं आया और रोलेट एक्ट उनके लिये फंदा बन गया। वे आप ही उस फ़ंदे में फंस गये।

तीसरा चरण : १९२० से १९४२

गांधीजी ने स्वस्थ समाज की एक रूपरेखा बना ली थी। साथ ही प्रयोग करने में उनकी पर्याप्त रुचि थी। वे प्रयोग भोजन विषयक, आत्मा विषयक, समाज विषयक,

राजनीति विषयक भी होते थे और गांधीजी लोगों को इन प्रयोगों में जोडने का एक भी अवसर चूकते नहीं थे। लोगों की ओर से प्राप्त होनेवाला सहयोग या विरोध, दोनों उनकी दृष्टि से स्वागत योग्य थे। अतः इस तीसरे चरण में पूर्ण देशव्यापी कुछ कार्यक्रम शुरू हुए। उदाहरण के लिये हाथकताई और बुनाई के कपडे का पुनरुज्जीवन, उसे प्रोत्साहन और बडे पैमाने पर उसका उत्पादन; अस्पृश्यता दूर करने का आन्दोलन; महिलाओं को पुरुषों के बराबर का स्थान देकर सार्वजनिक जीवन में उन्हें स्थान देने का प्रचलन, अंग्रेजी पद्धति के विद्यालय, महाविद्यालय, न्यायालय और अन्य संस्थाओं का बहिष्कार, उनका स्थान लेने के लिये राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं का प्रारम्भ, ये सभी भारतव्यापी कार्य और कार्यक्रम इस तीसरे चरण में शुरू हुए। साथ ही प्रान्तीय भाषाओं का व्यवहार करने का आग्रह भी शुरू हुआ। गांवों में और नगरों में सार्वजनिक स्थानों की स्वच्छता और सार्वजनिक स्वास्थ्य के विषय में जागृति लाने के प्रयास शुरू हुए। भारतीय उद्योगों और कलाओं को पुनःप्रस्थापित और प्रतिष्ठित करने के प्रयास हुए।

१९२० से १९४२ के इस चरण में १९१५ से १९२० की अनेक बातों का पुनरावर्तन हुआ। कालान्तर में मुद्दों में बदल हुआ, हल और उपायों में भी बदल हुआ परन्तु प्रश्नों का स्वरूप लगभग एक जैसा रहा। कालान्तर में गतिविधियों एवं संस्थाओं का भी अत्यधिक विस्तार हुआ। परन्तु इन सभी के लिये नमूना तो १९१९ के मार्च की सत्याग्रह सभा,[४१] १९१५ में स्थापित साबरमती आश्रम[४२] और १९१९ के बाद की भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस ही रहा। गांधीजी ने १९२० में कॉंग्रेस को नया विस्तृत संविधान दिया था।[४३]

१९२० से शुरू हुए इस तीसरे चरण में न केवल भारत में अपितु सम्पूर्ण विश्व में गांधीजी का प्रभाव प्रस्थापित हो गया। वे अब सम्राट थे, सन्त थे और कर्मवीर महात्मा थे।

चौथा चरण १९४४ से १९४८

यह अन्तिम चरण है। गांधीजी का विश्वास था कि जो अपने आप को जीतता है वह दुनिया को हिला सकता है। दुनिया को जीतने के लिये ऐसा एक ही व्यक्ति पर्याप्त है। अतः जब उन्हें प्रतीत होने लगा कि स्थिति उनकी योजना से अलग ही रूप धारण कर रही है और अलग ही दिशामें मुडकर गति कर रही है तब उन्हें अपनी स्वयं की अपूर्णता का ही भास होने लगा।[४४] परिणाम स्वरूप उन्होंने स्वयं तपस्या करना

शुरू किया और अपूर्णता की जडें कहां हैं यह खोजना प्रारम्भ किया। ४ फरवरी १९४७ को उन्होंने ठक्कर बापा से कहा, 'मैं जब से नोआखली आया हूं तब से अपने आप को पूछ रहा हूं कि ऐसा क्या है जो मेरी अहिंसा का गला घोंट रहा है ? उसका प्रभाव क्यों नहीं हो रहा है ? क्या मेरी ब्रह्मचर्यपालन की क्षति का यह परिणाम है ?'

उन्होंने अपने आपकी परीक्षा करने के प्रयोग किये। परन्तु स्थिति में सुधार नहीं आया। उसमें से जो आत्मसंशय जागा उसका असर उनके अन्तेवासियों पर भी पडा। वे सब दशकों से उनके निकट रहते थे तो भी उनके महात्मापन के विषय में उनके मनमें संशय जगने लगे। व भी उनका कुछ विरोध सा करने लगे और यदा कदा उन्हें मार्ग से भटक गये सन्त कहने लगे।

गांधीजी के विषाद को उसी समय के परिप्रेक्ष्यमें समझने की आवश्यकता है। मनकी धारणाओं को साकार रूप न मिल पाने का दुःख तो था ही परन्तु उससे भी अधिक दुःख उस समय की घटनाओं को लेकर था। परिस्थिति और जिनके समक्ष वे दुःख व्यक्त कर सकते थे ऐसे लोग ही उनके विषाद का कारण बनते थे। उनको कुछ ऐसा भी लगता था कि ऐसा करने से उनके आसपास के लोगों के दुःख और सन्ताप कुछ कम हो सकेंगे। परन्तु इन भावनाओं को आवश्यकता से अधिक इतना महत्त्व दिया गया और उनके विषय में इतनी अधिक चर्चा की गई कि उसका असर उस समय चलनेवाली सभी गतिविधियों पर हुआ और वे सब उसी विषाद के रंग में रंग गईं। उस समय के रक्तपात ने इसको और भडका दिया।

फिर भी, इसने जब प्रत्यक्ष रूप धारण किया तब वह अधिक दुःखदायक था। कदाचित् बहुत पहले से ही गांधीजी को उसका आभास था। सन् १९३१ में एक ब्रिटिश पत्रकार को साक्षात्कार देते हुए उन्होंने कहा था,

'हमें जब स्वराज प्राप्त होगा तब गंभीर स्वरूप का झगडा होने की भी पूरी सम्भावना है। परन्तु वह अल्प समय के लिए होगा। उसे दबाने के लिये मैंने सूचित किये हुए मार्ग से अगर आप सहायता नहीं करते हैं तो दो में से एक कौम या तो नष्ट होगी या थक जाएगी तब वह रुक जाएगा। कदाचित विभिन्न पक्षों में इर्ष्या पैदा होगी और झगडे होंगे; (आप अगर मुद्दा पकड कर रखते हैं तो) विभिन्न निहित स्वार्थों के बीच भी झगडा होगा; कदाचित प्रान्तों के बीच भी होगा।'

उन्होंने आगे कहा कि,

'किसी भी जाति या देश के स्वमान के साथ उस वात का कोई मेल नहीं होता है कि वह अन्य राष्ट्र या प्रजा की सरकार को या उसके किरी एक सदस्य को इस प्रकार

का कोरा चैक दे दे जिससे वह राष्ट्र या प्रजा या व्यक्ति यह कहे कि, ''इन लोगों में अपना कारोबार सम्हालने की क्षमता नहीं है इसलिये उन्होंने वह काम हमें दिया है।''[४५]

परन्तु हुआ यह कि ब्रिटिशरों की उपस्थिति में ही भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए। भारतीयों ने ब्रिटिश हस्तक्षेप की अपेक्षा भी की। वह सब कुछ हुआ जिसके लिये गांधीजी मना करते रहे थे। यही उनकी निराशा और शोक का मुख्य कारण था। तीन दशकों से साथ में रहनेवाले लोगों का स्वभाव और व्यवहार इस दुःख और शोक को बढावा देनेवाला ही था।

जो कुछ भी हो रहा था उस विषय में तटस्थ भाव से गांधीजी क्या मानते थे वह मई १९४७ में प्रकाशित एक लेख में देखा जा सकता है। वे लिखते हैं,

'जो हो रहा है वह यह है। गुलामी का अस्त और स्वतंत्रता के प्रभात के आगमन के साथ समाज की सभी दुर्बलताएँ उभरकर सतह पर आ जाती हैं तो वह स्वाभाविक है। उसे देखकर अस्वस्थ हो जाने का कोई कारण नहीं है। इस समय पर अच्छा तो यह होगा कि हम सन्तुलन बनाए रखें।'[४६]

अमानवीय रक्तपात का संकेत देते हुए २८ मई १९४७ को चीनी राजदूत को उन्होंने कहा,

'परन्तु मुझे तो यह केवल इस बात का संकेत प्रतीत होता है कि आज जब हम विदेशियों की धुरा उखाड कर फैंक रहे हैं तब गहराई में अवस्थित सारी गंदगी ऊपर सतह पर आ रही है। गंगा में जब पूर आता है तब सारा पानी गंदला बन जाता है, गंदगी ऊपर आती है, परन्तु पूर जब शान्त हो जाता है तब आंखों को शीतलता प्रदान करनेवाला निर्मल पानी ही बहने लगता है।'[४७]

६ जून १९४७ को एक पत्र में उन्होंने लिखा,

'अगर आप मानते हैं कि स्वराज के आते ही देश में घी दूध की नदियां बहने लगेंगी तो वह आप गंभीर रूप से गलती कर रहे हैं। आप अगर थोडा भी सोचेंगे तो समझ पायेंगे कि १५० वर्षो की गुलामी के बाद कम से कम उससे आधे वर्ष तो राष्ट्रजीवन में उस गुलामी के कीटाणुओ के कारण से जो सडन फैल गई है उसे साफ करने में लगेंगे। मुझे पूछने की तो आवश्यकता ही नहीं है। आप स्वयं समझते ही होंगे। स्वराज आने के बाद सुराज स्थापित करने के लिए स्वराज प्राप्ति के लिये की हुई तपश्चर्या से भी अधिक तपश्चर्या और बलिदान की आवश्यकता रहेगी।'[४८]

भारत को सत्ता हस्तान्तरित हो गई इसके तीन सप्ताह पूर्व एक विदेशी प्रश्नकर्ता को उन्होंने कहा,

'जब इतनी जबरदस्त सत्ता प्राप्त होती है तब देश की स्थिति और अधिक बिगड जाती है। दुनिया का इतिहास भी यही बात बताता है। उससे तुलना करने पर तो देखेंगे तो पता चलेगा कि भारत में तो असामान्य कुछ भी नहीं हुआ है।' उन्होंने आगे कहा, 'इसका अर्थ यह नहीं है कि अमानवीय व्यवहार को उचित मान लें। वह तो वास्तव में लज्जास्पद ही है। मुझे दुःख इस बात का हो रहा है कि इतनी बडी सत्ता को तो हमने बिना एक बूंद रक्त बहाए भारत छोडने के लिये विवश कर दिया और अब उस बेनमून पद्धति को कलंकित कर रहे हैं। मैं तो कहूंगा कि हमारे देशवासी बहुत भोले हैं, और अंग्रेजों ने इस बात का फायदा उठाया है। हम ही उस हद तक मूर्ख सिद्ध हुए।'[४९]

नवम्बर १९४७ में चीन के एक प्रतिनिधि मंडल को उन्होंने लिखा,

'एशिया खण्ड की शान्ति का आधार भारत और चीन पर है। दोनों बहुत विशाल देश हैं। अगर ये दोनों देश अपना आधार अहिंसा को बनाते हैं तो वे विश्व के महान देश बनेंगे।'[५०]

साथ ही उन्होंने जोडा,

'विश्व के इतिहास में भारत की स्वतंत्रता का महत्त्व अनन्यसाधारण है। सम्पूर्ण एशिया इससे लाभान्वित होगा।'[५१]

१९४६ से १९४८ की अवधि में उन्होंने इस प्रकार का जो कुछ भी कहा उसका अवलोकन करने पर समझ में आता है कि गांधीजी निराशाग्रस्त नहीं थे। वे 'बुद्धिहीन मारकाट' के कारण से अत्यन्त दुःखी थे। भारत के लोगों को जो व्यवस्था और अनुशासन वे देना चाहते थे उसी का सर्वथा अभाव देखकर वे अत्यन्त व्यथित हो गये थे। उनके सभी साथियों ने उल्टी दिशामें जाना प्रारम्भ कर दिया था। अभी तो प्रारम्भ था इसलिये कुछ स्पष्ट दिखाई नहीं देता था परन्तु भविष्य में वह अत्यन्त अवरोध रूप होनेवाला था। वास्तविकता यह थी कि पूरा देश अत्यन्त गम्भीर संकट से गुजर रहा था। अभी भी ब्रिटिशरों का हाथ ऊपर था। उनके कुछ महत्त्वपूर्ण साथियों को लगता था कि बहुत कष्ट सह चुके हैं। और अधिक प्रतिकार करने की शक्ति अब नहीं बची थी। भविष्य अत्यन्त धुंधला था। अतः जो हो रहा था उसे अनिवार्य समझकर उसका स्वीकार करना ही उनके वस में था। अतः केवल सत्ता का हस्तान्तरण होने पर भी वह स्वागत योग्य था। उन्होंने विचार किया कि शनैः शनैः उस स्थिति में भी सुधार लाया जा सकेगा।

समापन

तीन दशक गांधीजी भारत में रहे और उन्होंने कार्य किया। उसके प्रभाव का मूल्यांकन हम किस प्रकार कर सकते हैं ? उनके वैविध्य से परिपूर्ण जीवन का अर्थ किस प्रकार समझा जा सकता है ? उन्होंने जीवन में जो भी कुछ किया उसके विस्तृत निरूपण का मूल्य उनके लिये है जो उनकी कार्यपद्धति को सूक्ष्मता से जानना और समझना चाहते हैं। परन्तु केवल इससे ही उनका सही सही और समग्र मूल्यांकन हो पाना सम्भव नहीं है। उन्होंने जो कुछ भी किया वह सब करने में उनका दृष्टिकोण क्या था और विचारों को मूर्त रूप प्रदान करने की उनकी पद्धति कैसी थी यह समझना ही वास्तव में जानने समझने योग्य है।

हमारा एक गृहीत तो यह है कि गांधीजी अनन्य देशभक्त थे। फिर भी उनकी देशभक्ति और वैश्विकता में संघर्ष नहीं था। इसका कारण यह है कि दोनों बातों को उन्होंने ठीक से समझा था। उनका दृढ विश्वास था कि जो अपने आप के प्रति निष्ठावान है वही अपने परिवार, पडोस, मित्र और विश्व के प्रति निष्ठावान हो सकता है। सन् १९१५ में उस समय के मुम्बई के गवर्नर लॉर्ड विलिंग्डनने गांधीजी को कहा था, 'मैं जब से मुम्बई में आया हूं तब से मैंने एक भी हिन्दू या मुसलमान ऐसा नहीं देखा है जो 'नहीं' कह सकता है। अपने श्रोताओं के सम्मुख इस उक्ति को कहने के बाद गांधीजी ने कहा,

'यह आरोप अभी भी वजूद रखता है। हमारे अंदर तो 'ना' होती है परन्तु हम 'ना' का उच्चारण नहीं कर सकते। हम सामनेवाले को 'हां' अपेक्षित है कि 'ना' यह देखते हैं और उसके अनुरूप उत्तर देते हैं। यहां इस घर में एक तीन चार वर्ष आयु की बालिका है। उसकी मर्जी नहीं होती है तब मैं उससे कुछ भी नहीं करवा सकता हूं। मैं उसे मेरी गोदी में बैठने के लिये बुलाता हूं। वह कहती है 'ना'। मैं उसे पूछता हूं, 'तुम खादी के कपडे पहनोगी ?' वह कहती है 'ना'। इस बालिका में जो दम है उतना भी हम में नहीं है।'[५२]

दूसरा, उनका दृढ विश्वास था कि भारतीय संस्कृति वर्तमान विकृतियों और अव्यवस्थाओं से ग्रस्त होने के बाद भी आधुनिक पश्चिमी संस्कृति की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। यदि उन्होंने इस धारणा को अधिक विशद करके बताया होता और विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों के विषय में अधिक जानकारी दी होती तो उन्होंने सम्भवतः विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों को भारतीय संस्कृति के समान ही निरूपित किया होता। वे मानते

थे कि पश्चिम की संस्कृति भोगवाद पर आधारित है जब कि भारत की संस्कृति संयम पर। भारत के लोग यदि हिंसा का अवलम्बन करते भी हैं तो वह अन्तिम उपाय के रूप में ही होगा और उसका प्रयोजन लोकसंग्रह होगा। पश्चिम हिंसा का अवलम्बन वासना पूर्ति के लिये करता है।[५३] उन्होंने यह १९३८ में लिखा है। १९४६-४७ में 'बुद्धिहीन मारकाट' की कठोर निन्दा करने के बाद भी, १९३८ से १९४७ के दौरान या १९४७ के बाद उनके मूल अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं आया है।

गांधीजी सत्य और अहिंसा के उपासक थे यह तो सारा विश्व जानता है। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये कि हम इन दो गुणों से अभिभूत होकर उनके अन्य गुणों की ओर ध्यान ही न दें। वे अद्वितीय सेनापति थे। उन्होंने 'स्वस्थ समाज' की रूपरेखा बनाई थी। वे नियम और कानून गढनेवाले थे। कोई शस्त्रास्त्र न होने पर भी वे जिसका संचालन करते थे वह सेना थी और उनके अनुयायी उनके सैनिक थे। उन सैनिको में जितना साहस, अनुशासन और संयम था उतनी मात्रा में उन्हें यश प्राप्त होता था। १९१५ में साबरमती आश्रम में या उसके बाद सम्पूर्ण देश में उसी प्रकार के आश्रम में जो भी व्यक्ति उनके अन्तेवासी के रूप में जुडे थे उनका शिक्षण और प्रशिक्षण प्राचीन भारतीय यम नियमादि व्रतों के आधार पर गढे गये आश्रम के नियमों के द्वारा हुआ था। इसका अर्थ यह है कि आश्रमजीवन में तपश्चार्या, परिश्रम एवं सब के साथ मिलकर रहने का बंधुत्वभाव ही प्रमुख बातें थी।

अपने विरोध में या अपने साथ आनेवालों में साहस और विश्वास ही नहीं तो तितिक्षा और सहिष्णुता जाग्रत करने का और विकसित करने का काम गांधीजी के लिये बडा काम था। कदाचित् इन अन्तिम दो गुणों के विषय में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई थी। उनका स्वयं का आचरण किसी के भी लिये अनुकरणीय आदर्श के रूप में ही उपस्थित था। लोग उनकी ओर अहोभावपूर्वक ही देखते थे। उनका उपदेश ग्रहण कर वे अनुशासन से प्रेरित आत्मत्याग का आचरण करते थे। उनके सेनापतित्व में अन्यान्य मोर्चों पर लडकर वे लाभान्वित भी होते थे और उन्हें अनुभव भी प्राप्त होता था। विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों के कारण से उनमें अनुशासन और सहिष्णुता के गुणों का विकास हुआ। उन दो गुणों की जहां भी, जितनी कमी रही उसके अनुपात में उन्हें असफलता मिली। यह कहना कि आत्मत्याग और अनुशासन के शस्त्रों से ही हमेशा, हर बात में विजय ही प्राप्त हो सकती थी विवाद का विषय हो सकता है। परन्तु ऐसे समय पर वे अन्तिम क्षण तक संघर्ष कर पूर्णरूप से मिट गये होते और इस प्रकार के आत्मत्याग में ही स्वयं की सफलता उन्होंने मानी होती।

और भी एक बात दर्ज करनी चाहिये। हमारे जैसे अधिकांश लोग अपने वास्तविक जीवन में आत्यन्तिक भूमिका अपनाते हैं और बाद में धीरे धीरे परिस्थितियों से बाध्य होकर समझौते करते रहते हैं। गांधीजी के विषय में स्थिति इससे उल्टी थी। 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने अपना लक्ष्य घोषित किया। उस लक्ष्य तक पहुंचने की ही उनकी आकांक्षा थी। परन्तु लक्ष्य तक पहुंचने की उनकी यात्रा वे सावधानी से धीरे धीरे करते रहे। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों में भी वे यह सब स्वाभाविक रूप में करते थे या योजनापूर्वक यह कहना कठिन है परन्तु इसी कारण से उनके शत्रुओं का नैतिक आधार अस्थिर हो जाता था।

गांधीजी द्वारा प्रस्तुत और गांधीजी जिन के लिये परिश्रम करते थे उन सभी एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होनेवाली बातों का भी केन्द्रीय उद्देश्य एक ही था। उदाहरण के रूप में, वे कहते थे कि उनके लिये स्वराज एक वटवृक्ष के समान है जिसकी शाखायें पुनः जमीन तक पहुंच कर जडें बन जाती हैं। किसी भी एक शाखा को पुष्ट करने पर पूरे वृक्ष को पोषण प्राप्त होता है। समय समय पर मूल तने से भी अधिक इन शाखाओं को पोषण देना अधिक फलदायी होता है।

जिन जिन बातों को वे प्रतिष्ठित करना चाहते थे, और जो उनका केन्द्रीय उद्देश्य था उनके लिये भी यही सिद्धान्त लागू है। कोई भी युद्ध हो चाहे वह अस्पृश्यता निवारण का हो या हन्दू मुस्लिम एकता का, देशवासियों के साथ हो या विदेशियों के साथ - एक ही बार में पूर्ण नहीं हो जाता था। इन युद्धों में जिन जिन बातों का वे शस्त्र के रूप में प्रयोग करना चाहते थे उनकी परीक्षा भी युद्ध के पूर्व विभिन्न अवसरों पर कर लेते थे। केवल विदेशियों के साथ संघर्ष करते समय ही इस पद्धति का प्रयोग वे नहीं करते थे अपितु अपने स्वयं के साथ और अपने अन्तेवासियों को साथ लेते समय भी वे ऐसा ही करते थे। उनके अनशन और ब्रह्मचर्य के प्रयोग इसी बात का संकेत है।

गांधीजी को कई बार लोग 'धूर्त बनिया' कहते थे। वे थे भी। परन्तु अपने आप को उन्होंने परिश्रमशील और नवीनतम प्रयोग करनेवाले शूद्र और अन्त्यज के रूप में भी प्रस्तुत किया है। उनके सार्वजनिक जीवन में वे ब्राह्मण और क्षत्रिय भी दीखते हैं। परन्तु कुल मिलाकर वे एक कुशल सरसेनापति ही लगते हैं। उनकी चर्चाओं और पत्रों का सूत्र पकडकर उनके मानस की गहराई तक पहुंचकर देखने पर और उनकी गतिविधियों का बारीकी से निरीक्षण करने पर लगता है कि अपने केन्द्रीय उद्देश्य से प्रारम्भ करके वे जैसे जैसे आगे बढते हैं वैसे वैसे रास्ते में आनेवाले तत्त्वो

को एवं विचारों को ग्रहण कर उनको उपयोग में लाते हैं, उनकी बार बार परीक्षा करते हैं, जितना अधिक कचा है उतनी अधिक परीक्षा करते हैं। ऐसी ही परीक्षा उन्होंने अपने ब्रह्मचर्य के प्रयोगों की की, अहिंसक आचार के मामले में लोगों की की, खादी की भूमिका की की और ज़िन जिन को उन्होंने काम दिये उन व्यक्तियों की की। सेनापति की तरह सबसे दुर्बल कडी उनके लिये सब से अधिक ध्यान आकर्षित करनेवाली थी।

महाभारत के श्रीकृष्ण के समान ही गांधीजी को सेनापति की भूमिका में देखने पर १९१५ से लेकर १९४८ तक उन्होंने जो कुछ भी किया उसका सही अर्थ हम समझ सकते हैं। उन्होंने जिस प्रकार का रूपान्तरण किया वैसा उनसे पूर्व किसीने नहीं किया था। कार्य के साथ और जिन के लिये कार्य करना है ऐसे लोगों के साथ यदि तादात्म्य नहीं है और उनके प्रति पूर्ण निष्ठा नहीं है तो इस प्रकार के कार्य में यश सम्पादन नहीं किया जा सकता है। साथ ही संगठनात्मक एवं व्यवस्थात्मक कौशल की भी महती आवश्यकता होती है। यह बात तो सब जानते ही हैं। फिर भी गांधीजी के 'महात्मा' होने की आड में इन बातों की ओर हमारा ध्यान कम जाता है। प्रश्नों को हल करने की उनकी पद्धति और विदेशी और देशी लोगों से लडने के लिये उनकी व्यूहरचना की ओर ध्यान देने में हम चूक जाते हैं। उदाहरण के लिये आगे बढने के साथ साथ पीछे भी हटने का उनकी व्यूहरचना में महत्त्वपूर्ण स्थान था। शत्रु के हिंसक, रक्तरंजित आक्रमण की अतिशयता के कारण से ही वे पीछे नहीं हटते थे (वह तो कायरता होती) अपने ही सैनिकों की व्यवस्था और अनुशासन जब लडखडाने लगता था तब भी वे पीछे हटते थे। परन्तु यह पीछे हटना भी सुनियोजित होता था। आगे बढना शत्रु पर निर्भर था, पीछे हटना स्वयं पर। शत्रुकी गतिविधियों और स्थिति में झांककर, उनकी सुरक्षा व्यवस्था की जानकारी प्राप्त कर अपनी ताकत आजमाना ही आगे बढ़ना होता था।

अतः हमें जैसे बताया जाता है, युद्ध में पीछे हटना उनकी हिमालय जैसी गलती नहीं थी, अपितु सुनियोजित व्यूहरचना का परिणाम था। आश्रम के बाहर या अन्दर जब भी कभी ऐसा होता था तब उन्हें क्षतियों को देखकर कम दुःख लगता था परन्तु अपनी क्षमताओं को ठीक से नहीं आंका या पूर्वतैयारी ठीक से नहीं की इस बात का अधिक दुःख लगता था। स्वतन्त्रता संग्राम के सेनापति की भूमिका में जिस हिंसा को वे स्वीकार नहीं करते थे वह थी आवेशपूर्ण रूप से अवश होकर आचरण में आनेवाली हिंसा। उनके लिये सर्वाधिक दुःखदायक बात थी अनुशासन का अभाव। वे

सशस्त्र संघर्ष का विरोध करते थे, किसी भी समस्या का समाधान तर्क और मन्त्रणा से ही होना चाहिये ऐसा मानते थे परन्तु कायरता उनके लिये असह्य थी। वे मानते थे कि अप्रामाणिक होने से तो बर्बर बनना अच्छा है। उनकी मान्यता थी कि 'मूल आधार में यदि अनिष्ट है तो इष्ट रचना भी अनिष्ट को ही अधिक बलवान बनाती है।'

गांधीजी को हम किसी भी भूमिका में देखें, उसी भूमिका से उन्हें समझने का प्रयास करें, उनके अंगभूत सद्गुणों का और क्षमताओं का परिचय अवश्य होता है। हम सन्तुष्ट भी होते हैं। ये गुण और क्षमताएँ उन्होंने कहांसे और कैसे प्राप्त की यह जानने का हमारे पास कोई स्रोत नहीं है। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि विभिन्न प्रकार के कामों में उन्हें सफलता प्राप्त हुई या नहीं हुई उसका सीधा सम्बन्ध उनके गुणों और क्षमताओं के साथ ही था। उनकी अच्छे शासन की कल्पना धर्मराज्य की थी। उनके गुणों और क्षमताओं के परिणाम स्वरूप उनके व्यक्तित्व में गौरव और सन्तोष झलकते थे। उनके सम्पर्क में आनेवाले को उसका अनुभव अवश्य होता था। यह क्षमता केवल असहयोग के शस्त्र के कुशल उपयोग की ही नहीं थी, उससे कहीं अधिक थी। आज भी उनकी विभिन्न प्रकार की क्षमताओं को जानने समझने का प्रयास मूल्यवान सिद्ध होगा।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के १९०९ के अधिवेशनमें उस समय के महान राजकीय अग्रणी गोपाल कृष्ण गोखले ने गांधीजी को विशिष्ट व्यक्ति कहा था। उन्होंने कहा था, 'यह एक ऐसा नर है जो नरों में नरोत्तम, नायकों में महानायक और देशभक्तों में परम देशभक्त है। भारतीय अस्मिता उसके व्यक्तित्व में चरम रूप में झलकती है ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगी।'[५४]

सन् १९२० में न्यूयोर्क में एक विख्यात चर्च के मंच से रेवरण्ड जे. एच. होम्स ने गांधीजी को 'नवख्रिस्त' कहा। अगले वर्ष उन्होंने कहा, 'मैं जब गांधी को याद करता हूं तब ईसा मसीह का ही स्मरण करता हूं।'[५५]

गांधीजी को अत्यन्त निकट से जानने पहचानने वाले गिल्बर्ट मरे नामक अंग्रेज ने सन् १९१८ में गांधीजी को वे किस प्रकार समझते थे वह कहते हुए लिखा,

'गांधीजी की कहानी इतनी अद्भुत है कि उन्होंने किसी प्रकार के अनिष्ट का आश्रय न लेते हुए, किसी भी प्रकार की हिंसा का आचरण न करते हुए, केवल शत्रु पक्ष के सभी अत्याचारों को निर्विरोध सहने की व्यूहरचना के आधार पर ही युद्ध जीता। अत्याचार सहने की क्षमता के प्रभाव में अत्याचार करनेवाले को ही लज्जा का

अनुभव होता था। एक ओर अमेय भौतिक ताकत और दूसरी ओर निरस्त्र मानवीय आत्मबल। दोनों के युद्ध में अन्तमें भौतिक ताकत कण कण हो कर बिखर गई और निरस्त्र आत्मबल में ही विलीन हो गई।'

उन्होंने आगे कहा,

'जो सत्ताधीश है उसने इन्द्रियसुख, समृद्धि, सुविधा, प्रशंसा, प्रगति, लाभ आदि को तृणवत् माननेवाले और स्वयं जिसे सत्य मानते हैं उसमें दृढतापूर्वक स्थिर रहनेवाले के समक्ष अत्यन्त सावध रहने की आवश्यकता है। ऐसा मनुष्य अत्यन्त खतरनाक और अनाकलनीय शत्रु है। आप उसके शरीर का घात कर सकते हैं परन्तु आत्मा को एक तसुभर भी झुका नहीं सकते।'[५६]

अपने आत्मचरित्र की सन् १९२५ में लिखी हुई प्रस्तावना पढने पर समझ में आता है कि गांधीजी का लक्ष्य तो कुछ और ही था। प्रस्तावना के चतुर्थ अनुच्छेद में वे लिखते हैं,

'मैं जिसे प्राप्त करने के लिए उत्कंठ हूं - तीस वर्षों से जिसे प्राप्त करने के लिये मैंने प्रयास किये हैं - वह है आत्मसाक्षात्कार, ईश्वर के साथ मिलन, मोक्ष। इसी लक्ष्य के लिये मैं जी रहा हूं, काम कर रहा हूं। मेरा अस्तित्व उसी के लिये है। मेरा सम्पूर्ण लेखन, मेरे भाषण, राजकीय क्षेत्र के सारे साहस इस लक्ष्य की दिशामें ही ले जानेवाले हैं।'[५७]

इस अध्याय में पूर्व में निरूपित बातों और गांधीजी की मोक्षप्राप्ति की आकांक्षा में आपसी विरोध होने का आभास होने पर भी उनके लेखन और उनके आत्मकथन का विशद अध्ययन करने पर समझ में आता है कि यह विरोध वास्तविक नहीं है। उनके अभिप्राय में मोक्ष और हिन्द स्वराज में कोई अन्तर नहीं है। इतना ही नहीं तो हिन्द स्वराज ही उनके लिये मोक्ष है। आत्मचरित्र के समापन में वे लिखते हैं,

'सनातन और सर्वव्यापी ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये हमें क्षुद्रातिक्षुद्र जीव के साथ भी तादात्म्य सिद्ध करना पडेगा। जो सत्य को प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं वह अपने आप को जीवन के किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं रख सकता है। सत्यनिष्ठा से प्रेरित होकर ही मैं राजकीय क्षेत्र में आया हूं। बिना किसी झिझक के परन्तु अत्यन्त विनम्रता से मैं कहूंगा कि जो कहते हैं कि धर्म का राजनीति के साथ कोई लेनादेना नहीं है वे धर्म को जानते नहीं हैं।'[५८]

३-१२-१९२५ को वे लिखते हैं,

'ईश्वर न स्वर्ग में है, न पाताल में। वह सर्व में है।' अतः उन्हों ने 'मानवता

की सेवा के माध्यम से ईश्वर को प्राप्त करने का पुरुषार्थ किया।'[५९]

अन्य लेखों में भी यही भावना अभिव्यक्त होती है। दस वर्ष बाद, २९-८-१९३६ को इसी को विशद करते हुए उन्होंने लिखा,

'मैं समस्त विश्व का एक अंश हूं। मानवजाति से अलग करके मैं ईश्वर को नहीं देख सकता। मेरे निकट रहनेवाले पडौसी इतने असहाय, निर्धन और निष्क्रिय हैं कि उनकी सेवा के लिये ही मेरी सारी शक्ति का विनियोग मुझे करना चाहिये। अगर मेरे मन में ऐसा निश्चय होता है कि ईश्वर हिमालय की गुफाओं में प्राप्त होगा तो मैं तुरन्त वहां चला जाऊंगा। परन्तु मैं जानता हूं कि मानवजाति से अलग करके मैं ईश्वर को नहीं देख पाऊंगा।'[६०]

१९३६ में वे इस विषय में अधिक दृढ हैं। वे लिखते हैं,

'मेरे उन दरिद्रनारायणों को मैं जानता हूं। चौबीसों घण्टे मैं उन्हीं का स्मरण करता हूं। सुबह जागते समय और रात्रि में सोते समय उनका जतन करना ही मेरा भजनपूजन है। क्यों कि उन मूक दरिद्रनारायणों के हृदय में स्थित भगवान से अलग मैं किसी ईश्वर को जानता नहीं हूं। वे उस अन्तरजामी को नहीं पहचानते हैं, मैं पहचानता हूं। उस जनता की सेवा के माध्यम से ही मैं परमेश्वर का सत्य रूप में या सत्य का परमेश्वर रूप में आराधन करता हूं।' [६१]

यह धर्मराज्य यदि प्राप्त हो गया होता अथवा उन्हें हिमालय की गुफाओं में मोक्ष प्राप्त करने हेतु जाने के लिये कहा गया होता तो सम्भव है कि भारत के असंख्य लोगों ने अनादि काल से जो किया है उसका अनुसरण कर वे हिमालय में जाने के लिये सिद्ध हो जाते। परन्तु उनके उपर्युक्त शब्द ही कहते हैं कि यहां रहकर भी वे जो कुछ भी करते थे वह मोक्षप्राप्ति की साधना ही थी। इसी बात में उनका वैशिष्ट्य है। यही एक बात उनकी वर्तमान एवं ऐतिहासिक उपयोगिता सिद्ध करनेवाली है।

सन्दर्भ

१. डी. जी. तेण्डुलकर, 'महात्मा'

२. सी. बी. दलाल, 'गांधी : १९१५-१९४८' 'अ डिटेल्ड क्रोनोलोजी'

३. वही

४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. ५-७,१२-१-१९१५ को मुम्बई में सार्वजनिक सम्मान समारोह में भाषण

५. सी. बी. दलाल, 'गांधी १९१५-१९४८' 'अ डिटेल्ड क्रोनोलॉजी', जे. बी. कृपलानी ने 'गांधी : जीवन एवं विचार (Gandhi : Life and Thought)' पृ. ६० में कहा है तदनुसार १९१७ में चम्पारण्य में गांधीजी के स्वागत हेतु आये हुए लोगों ने बिना उनकी जानकारी के

उन की गाडी के घोडे छोडकर स्वयं उसे खींचा था। कृपलानी लिखते हैं 'सम्माननीय नेताओं की गाडी को उनके प्रशंसक खींचते थे। उस समय के समाचारपत्रों को देखने पर इस प्रकार के सम्मान के भागी और कौन कौन हुए थे यह जाना जा सकता है। लोकमान्य तिलक को लखनऊ एवं कानपुर में इस प्रकार का सम्मान प्राप्त हुआ था। यह घटना सन् १९१६ की है। (टी.वी. पर्वते, 'बी. जी. तिलक', १९५८, पृ. ३५०, ३५५ (अंग्रेजी); एस. एल. करंदीकर, 'लोकमान्य बी. जी. तिलक', १९५७, पृ. ४३३-४३४ (अंग्रेजी); डी. वी. त्हामणकर, 'लोकमान्य तिलक', १९५६, पृ. २४२ (अंग्रेजी)'

६. सी. बी. दलाल, 'गांधी : १९१५-१९४८ : अ डिटेल्ड क्रोनोलॉजी', १०-४-१९१५.

७. धनंजय कीर, 'महात्मा गांधी', पृ. २१२ (अंग्रेजी)

८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, २१-१-१९१५ का गोंडल में नागरिक सम्मान समारोह में भाषण

९. धनंजय कीर, 'महात्मा गांधी', पृ. २१८

१०. 'हिन्द स्वराज', अध्याय १७, गांधीजी कहते हैं, 'इस प्रकार के प्रतिकार के उदाहरण भारत के इतिहास में देखने को मिलते हैं, १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भी।'

११. सीतारामैय्या, 'हिस्ट्री', खण्ड १, पृ. २१४ (अंग्रेजी)

१२. गांधीजी के सार्वजनिक जीवन में इस प्रकार के अनेक अवसर आये जब उनका आत्मविश्वास कुछ लडखडाया था। उसके कारण भिन्न भिन्न प्रकार के थे। फरवरी १९४३ में इक्कीस दिन के अनशन के बाद ऐसा गम्भीर अवसर उपस्थित हुआ था। अनशन के दौरान ही गांधीजी कहने लगे थे कि सरकार उनको एवं उनके साथियों को सात वर्ष तक कारावास में रखेगी। परन्तु अनशन के परिणाम स्वरूप उनका स्वास्थ्य बिगड गया और उन्हें एक वर्ष में मुक्त कर दिया गया। परन्तु स्थिति में कोई सुधार नहीं आया। उस समय यह बताया जाता था कि गांधीजी कुछ उलझन में थे और कारावास के मुक्त होने पर हतप्रभ हो गये थे। फिर भी उन्होंने अनेक मोर्चो पर कार्य करना शुरू किया था। उन्होंने महंमद अली जिन्हा के साथ मन्त्रणा शुरू की, खादी और रचनात्मक कार्यक्रमों की पुनर्रचना शुरू की, आदि। परन्तु आज तक उनका जो आत्मविश्वास था वह उन्होंने हमेशा के लिये गंवा दिया। अन्तिम चार पांच वर्षों के उनके लेखन में उनकी अकेले हो जाने की भावना झलकती है। यदि इस धारणा में थोडा सा भी तथ्य है तो इसकी गहराई से छानबीन करना आवश्यक है।

१३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २०२-७, १४-२-१९१६ का मद्रास में स्वदेशी विषयक भाषण

१४. गिरिराज किशोर, 'पहला गिरिमिटिया', ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९९९.

१५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय',, खण्ड ९, परिशिष्ट २०(१), १०-८-१९०९ का लोर्ड एम्प्टहिल का जनरल् स्मट्स को गांधीजी के बारे में पत्र

१६. सं. गां, खण्ड १३, १४-१-१९१५.

१७. धनंजय कीर, 'महात्मा गांधी : राजद्वारी सन्त और निःशस्त्र पयगंबर', १९७३, पृ. २१६

१८. सी. वी. दलाल, 'गांधी : १९१५-१९४८, १०-४-१९१५'

१९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. १९३-९९, ६-२-१९१६ का बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में भाषण.
२०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २००-१, 'पायोनियर', ९-२-१९१६, 'बॉम्बे क्रॉनिकल' १०-२-१९१६, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी विषयक
२१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २०२-७, १४-२-१९१६ का मद्रास में स्वदेशी विषयक भाषण
२२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २९८-९, २९ और ३१-१२-१९१६, राष्ट्रभाषा के विषय में लखनऊ में 'नेशनल लीग' का साक्षात्कार
२३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २२४, प्रान्तीय भाषा और शिक्षा विषयक भाषण, मद्रास
२४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २०७-१६, १६-२-१९१६ का वाय. एम. सी. ए. में आश्रम की प्रतिज्ञा विषयक भाषण
२५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. १८२, ३-१-१९१६ का सुरत में मोहमदन एसोसिएशन में भाषण.
२६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, पृ. २७४, अक्टूबर १९१६, वर्तमान शिक्षा व्यवस्था
२७. १९०५ में वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा के अधिवेशन में लोकमानय तिलक ने एक राष्ट्रभाषा और एक लिपि की हिमायत की। उसमें एक सुझाव जब रोमन लिपि का आया तब उन्होंने कहा, 'मुजे यह सुझाव एकदम हास्यास्पद लगता है।' २-१-१९०७ को कोलकाता में 'नये पक्ष के सिद्धान्त' विषय पर बोलते हुए उन्होंने आत्मत्याग और प्रतिकार को ब्रिटिश सरकार के साथ पूर्ण असहयोग के रूप में निरूपित किया। उन्होंने कहा, हम ब्रिटिशरों को राजस्व वसूल करने और शान्ति स्थापित करने में सहयोग नहीं करेंगे। हम अपना स्वयं का न्यायालय निर्माण करेंगे। समय आने पर कर नहीं भरेंगे। क्या हम अपनी संगठित शक्ति से ऐसा कर पायेंगे ? यदि हां, तो समझ लीजिये कि कल ही से हम मुक्त हैं।' (बाल गंगाधर तिलक, 'भाषण एवं लेख', गणेश एण्ड कं., मद्रास, फरवरी १९१९, पृ. ३१, ६५ आदि)
२८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १३, रेलवे विषयक सामग्री। इस प्रकार की सामग्री इस से पूर्व के और बाद के खण्डों में भी है।
२९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. ८१-२,२-२-१९१९ पूर्व का शंकरलाल बैंकर को पत्र
३०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. २४, ८-२-१९१९ का पं. मदनमोहन मालवीया को पत्र
३१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. २५-६, ९-२-१९१९ श्री वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री को पत्र
३२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. ८६, ९-२-१९१९ का प्रागजी देसाई को पत्र
३३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. , १६-२-१९१९, ओ.एस., घाटे को पत्र
३४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५ पृ. ८८, २०-२-१९१९, वायसरॉय के निजी सचिव को पत्र
३५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १६, पृ. ९१-३, २३-२-१९१९, सोनजा श्लेसीन (दक्षिण अफ्रीका) को पत्र

३६. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. ९५-७, २३-२-१९१९, देवदास गांधी को पत्र
३७. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. ९२, २४-२-१९१९, सत्याग्रह प्रतिज्ञा
३८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. ९९,२४-२-१९१९ वायसरॉय के निजी सचिव को टेलीग्राम
३९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. १३४-५, २०-१-१९१८ मगनलाल गांधी को पत्र
४०. सी. बी. दलाल, 'गांधी १९१५-१९४८', ५-३-१९१९
४१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. १२६-७, 'यंग इण्डिया' सत्याग्रह सभा के नियम, १२-३-१९१९
४२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १५, पृ. ९१-३, साबरमती, आश्रम का संविधान, मे १९१५
४३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १९, नागपुर अधिवेशन में काँग्रेस के संविधान का स्वीकार
४४. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८७
४५. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ४५, 'स्टेट्समेन' को साक्षात्कार; आई ओ आर : एम एस एस इयुआर सी ३५९ : महात्मा गांधीने टाइप की हुई प्रति पैट्रिक लैस को दी, १-४-१९३१ को कराची में उन्हीं के हाथ से किया सुधार
४६.. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८८, १-६-१९४७, प्रश्नमंजूषा, 'हरिजन'
४७. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८८, २८-५-१९४७, लैन्ची लुआन से साक्षात्कार
४८. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८८, ६-६-१९४७ का पत्र
४९. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८८, २६-७-१९४७, केली के साथ वार्तालाप
५०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८९, ६-१-१९४७, चीनी प्रतिनिधि मण्डल के साथ भेंट
५१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८९, ७-११-१९४७, मलाया को सन्देश
५२. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ८९, ३०-११-१९२० इलाहाबाद में छात्रों के सम्मुख भाषण
५३. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड १४, २७-१२-१९१८, मगनलाल गांधी को पत्र
५४. टी.वी. पर्वते, 'गोपाल कृष्ण गोखले', नवजीवनन, अहमदाबाद, १९५९, पृ. ११०
५५. 'हू इझ द ग्रेटेस्ट मेन इन द वर्ल्ड टुडे', १९२१, पृ. २४, न्यूयॉर्क के कम्युनिटी चर्च में डा. जॉन हैन्स होम्स का भाषण, हरिदास मझमुदार के 'द एण्डयोरींग ग्रेटनेस ऑव् गांधी : अन अमेरिकन एस्टीमेट' (The Enduring Estimate of Gandhi : An American Estimate) से
५६. गिल्बर्ट मरे, 'द सोल एझ इट इझ, एण्ड हाउ टु डील विद इट' (The soul as it is, and how to Deal with it) हिबर्ट जर्नल से, १९१८, पृ. १९१-२०५, विशेष पृ. २०९
५७. महात्मा गांधी, 'मेरे सत्य के प्रयोग', २६-११-१९२५ की प्रस्तावना
५८. वही
५९. आर. के. प्रभु, 'द माइण्ड ऑव् महात्मा गांधी' (The mind of Mahatma Gandhi)
६०. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६३, मॉरिस फ्राइडमन के साथ चर्चा, 'हरिजन' ११-३-१९३९
६१. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खण्ड ६९, पृ. ५६-५७, राजकोट में अनशन समाप्ति पर, 'हरिजन', १३-३-१९३९.

७. सेवाग्राम : एक नई शुरुआत

उत्तर पूर्व महाराष्ट्र के शुष्क, ऊसर क्षेत्र में स्थित सेगांव एक छोटा सा गांव है। उसके आसपास मुश्किल से ही कोई नदी, पहाड या अरण्य है। भूमि ऐसी बंजर है कि गांव के लोग अपने लिये और अपने पशुओं के लिये मुश्किल से कुछ धान्य और घास उगा लेते हैं। ५० वर्ष पूर्व गांधीजी इस गांव में आये तब भी गांव ऐसा ही था। (सेवाग्राम आश्रम सेगांव के. निकट है।) अधिकांश लोगों को तो कदाचित दो बार का भोजन भी दिनमें नहीं मिलता होगा। आज भी वहां कोई समृद्धि नहीं है। आज भी सेगांव अनारोग्यकर वातावरण और गरीबी से जूझ रहा दिखता है। ग्रामवासियों के मुख पर निराशा और हताशा छाई हुई दिखती है।

परन्तु गांव के आसपास के वातावरण में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई देता है। ५० वर्ष पूर्व यहां पक्की सडक नहीं थी। गांधीजी ३० अप्रैल १९३६ को प्रथम बार यहां आये थे तब वर्धा से सेवाग्राम तक पैदल आये थे। अगले ही दिन डा. आम्बेडकर और श्री वालचन्द हीराचन्द गांधीजी से भेंट करने आये तब वे भी पैदल ही आये थे। तब से लेकर कुछ वर्षों तक आश्रमवासी वर्धा और सेवाग्राम के बीच पैदल ही आनाजाना करते थे। आज भी वर्धा पूर्व रेलस्थानक से सेवाग्राम होकर सेगांव तक जानेवाली सडक सँकरी है। इस सडक पर चढते ही परिवर्तन और विकास के संकेत मिलने शुरू हो जाते हैं। सडक के दोनों ओर की जमीन महाराष्ट्र औद्योगिक विकास निगम के आधिपत्य में है। अतः वहां स्थान स्थान पर कारखाने और चिमनियां खडी हो गई हैं। स्टेशन के पास ही नया बना हुआ दूधकेन्द्र है। आसपास के गांवों से यहां दूध एकत्र होता है और नगरवासियों की दूध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भेजा जाता है। इस दूधकेन्द्र और उसकी गतिविधियों को देखकर सहज रूप से समझ में आता है कि पासमें ही खडी चाय की टपरीवाला पाउडर के दूधकी चाय क्यों बनाता है।

कुछ ही दूरी पर आगे आधुनिक मेडिकल कॉलेज के भव्य भवन खडे दिखाई देते हैं। इन भवनों में शिक्षा तो अत्यन्त आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की प्राप्त होती

है परन्तु उसमें शिक्षा ग्रहण करनेवाले छात्र अपनी ग्रामीण पहचान मिटा नहीं पाये हैं। अभी भी यहां जीन्स और टॉप लोकप्रिय नहीं हुए हैं। छात्र स्वच्छ और पारम्परिक वेश पहनते हैं। अभी भी यहां मराठी बोली जाती है। अंग्रेजी का आधिपत्य नहीं बना है। यहां अस्पताल है परन्तु उसका अस्तित्व केवल केरल से आई हुई परिचारिकाओं से ही अनुभव किया जा सकता है। ये केरलवासी युवतियां अत्यन्त उपजाऊ, हरीभरी और सुजला भूमि से इस अत्यन्त बंजर और सूखे गरम इलाके में आई हैं। अतः उनकी ओर देखकर अनुकम्पां जाग्रत होती है परन्तु देश के किसी भी प्रदेश में जाकर परिचर्या करना इसी प्रकार की युवतियों के भाग्य में लिखा रहता है। आज की आधुनिक आरोग्य सेवा अपनी भूमि से बिछडे हुए लोगों से प्राप्त सस्ती सेवा के बिना चल ही नहीं सकती है। इन युवतियों के लिये सेगांव गल्फ देशों के समान ही सूखा और गरम है। यहां आनेवाले लोगों का झट से ध्यान आकर्षित करनेवाली दूसरी बात है सडक के दोनों ओर की झुग्गियों में चलनेवाले विडिओ पार्लर। इन पार्लरों में गांव के लोग और मेडिकल के छात्र झुग्गियों में भी महानगरीय जीवन का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

मेडिकल कॉलेज के निकट ही महात्मा गांधी का सेवाग्राम आश्रम है। उसकी एक ओर नगर का सस्ता और वर्णसंकर जीवन है, दूसरी ओर गांवकी गंदगी और दारिद्य्र का साम्राज्य है। इन दो अन्तिमों के बीच सेवाग्राम आज भी एक स्वस्थ शैली विकसित करने का प्रयास कर रहा है। आश्रम के अन्दर जो आवास हैं वे बाहर की झोंपडियों से बहुत अलग नहीं हैं। वे स्थानीय कारीगरों द्वारा बांस और खपरैल से ही बनाये गये हैं। परन्तु अन्तर इतना है कि गांव से उल्टा यहां जरा भी गंदगी नहीं है, जडता नहीं है। आश्रम की झोंपडियों का रखरखाव बहुत अच्छी तरह से होता है। उसके आंगन अत्यन्त स्वच्छ हैं, खुले हैं। पीने और नहाने के लिये पानी पर्याप्त है। चारों ओर वृक्ष और झाडी है। आश्रम जैसे कि प्रत्यक्ष रूप से कह रहा कि जरा सी सुविधा प्राप्त होने पर गांव सुन्दर और रहने लायक बन जाता है। गांव को जीवनदान देने के लिये उसे शहर बनाने की आवश्यकता नहीं है। (हमारे पास सभी गांवों को शहर बनाने कि लिये पर्याप्त साधन भी नहीं हैं।) गांव यदि अपने लिये पीने के पानी की सुविधा बना लेता है और प्रत्येक ग्रामवासी अपने निभाव के विषय में आत्मविश्वास और क्षमता बना लेता है और अपनी सडकें स्वच्छ रखता है तो देश अत्यन्त सुविधा सम्पन्न बन जायेगा।

वर्तमान में सेवाग्राम में कुछ लोग रहते हैं। एक समय था जब यह स्थान देश

की अघोषित राजधानी था। जब गांधीजी यहां रहते थे तब आश्रम का यह दर्जा था। सन् १९३६ के बाद गांधीजी पर्याप्त समय के लिये यहां रहे थे। वे बहुत व्यस्त थे। अनेक बार वे कारावास में गये। फिर भी यहां उन्होंने सात वर्ष बीताये। और जब गांधीजी यहां हैं तो वह स्वाभाविक रूप में ही देश की राजधानी बन जायेगा, क्यों कि वहीं से देश की जनता का बल और आत्मगौरव प्रकट होगा।

आज आश्रम में दस पन्द्रह वृद्ध गांधीवादी चिन्तक और अग्रणी निवास करते हैं। केवल एक युवा सचिव है। यहां का भोजन सादा, पौष्टिक और पर्याप्त होता है। प्रतिदिन अबाध रूप से प्रातः सायं प्रार्थना का क्रम चलता है। जिस अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठकर गांधीजी सायंकाल की प्रार्थनासभा में प्रवचन देते थे उसी वृक्ष के नीचे आज भी प्रार्थना होती है। इस रूप में गांधीजी की स्मृति अभी भी कायम है। युवा सचिव और वृद्ध आश्रमवासियों के दृढनिश्चय और साहस की प्रशंसा तो करनी ही पडेगी। सारा देश जिसे लगभग भूल सा गया है उस व्यक्ति की स्मृति को जीवित रखने के लिये इन लोगोंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है। मिट्टी की कुटी और पुरानी स्मृतियों को जीवित रखना कोई सरल काम नहीं है। उसे रोज रोज झाडपोंछ कर साफ रखनी पडती है और मरम्मत भी करनी पडती है। पर्याप्त साधन नहीं होने पर भी आश्रम को प्राणवान रखने के कार्य में इस युवा सचिव ने जिस साहस का परिचय दिया है वह अभिनन्दन के पात्र है।

परन्तु यह साहस और यह लगन कहां तक अस्तित्व बनाये रखेंगे ? अब तो यह निश्चित करने का समय आ गया है कि हम गांधीजी की स्मृति को किस रूप में जीवित रखना चाहते हैं। महाराष्ट्र सरकार के एक मन्त्री का तो सुझाव था कि सेवाग्राम का पर्यटन केन्द्र के रूप में विकास किया जा सकता है। भाग्य ही माना जायेगा कि इस विचार को साकार रूप प्राप्त नहीं हुआ। हम गांधीजी की स्मृति को जीवित न भी रखें तो कम से कम जिस सभ्यता के लिये उन्होंने जीवन समर्पित किया उसका अपमान तो न करें। गांधीजी ने आजीवन हमें स्वयं का और अपनी परम्परा का सम्मान करना सिखाया। संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करना, अपनी परम्परा, विचार और शैली की सहायता से अपने पैरों पर खडा रहना सिखाया। कुछ थोडी सी विदेशी मुद्रा के लोभ में हम उसका त्याग करेंगे ? उसका व्यापार करेंगे ? गांधीजी के नाम पर विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की यह प्रवृत्ति तो गांधीजी का घोर अपमान है। उसे कभी भी माफ नहीं किया जा सकता। समय आने पर इस प्रकार की जरा सी गतिविधि का प्रस्ताव आने पर उसका विरोध करने के लिये सभी

गांधीवादियोंने इकट्ठा हो जाना चाहिये। दूसरी ओर भारत की सरकार और भारत के लोग विदेशी पैसे और विदेशी विचार से अपने आप को दूर रखने का संकल्प करते हैं तो गांधीजी के लिये उतनी ही अंजलि पर्याप्त है।

सुना है कि सेवाग्राम को विश्वविद्यालय का स्वरूप दिया जाएगा। यह अच्छा विचार है। आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में गांधी विचार के विभाग और आसन (Departments और Chairs) रखने का प्रचलन शुरू हुआ है। महात्मा गांधी के नाम से अध्ययन और अनुसन्धान की संस्थाओं का भी प्रारम्भ हुआ है। इन संस्थाओं को व्यवस्थित रखनेवाले नियमों एवं आसपास के वातावरण में भी उनका काम ठीक ही चलता होगा ऐसा मान लेने के बाद भी कहना पडेगा कि वे बौद्धिक शून्यावकाश से बच नहीं सकतीं। श्रेष्ठतम परिस्थिति में भी इन संस्थाओं का प्रदान नहीं के बराबर रहेगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि गांधीविचार, दृष्टिकोण, लेखन आदि का विश्लेषण कर वर्तमान में विभिन्न विद्याशाखाओं और पाठ्यक्रमों में उसका समावेश किया जाए। दुर्भाग्य से आज तक इस प्रकार का विचार नहीं किया गया है।

'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' जब तक उपलब्ध नहीं था तब तक कदाचित यह काम नहीं किया जा सकता था। परन्तु अब तो वह उपलब्ध है। अतः विद्वज्जनों का यह कर्तव्य बनता है कि पश्चिम के विचारकों, वैज्ञानिकों, तत्त्वचिन्तकों, राजनीतिज्ञों, मानवशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों को वे जितना महत्त्व प्रदान करते हैं, कम से कम उतना तो गांधीविचार को भी दें। सम्भव है कि गांधी विचार आधुनिक शैक्षिक विश्लेषण का मार या भार सह न पाये। परन्तु गांधीजी जीवनभर सत्य के पक्ष में खडे रहे। उनके जीवन का विश्लेषण कर के यदि कोई इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि उनके वक्तव्य और कर्तृत्व का कोई बहुत वजूद नहीं है तो वह गांधीजी का ही नहीं तो सत्य का भी मूल्यांकन होगा। इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भ होगा तो हम उनके विचार और उनकी दृष्टि के उद्गम तक पहुंच पायेंगे। ऐसा होता है तो फिर देखते ही देखते देश के विद्वज्जगत को एक बलवान एवं निश्चित, अन्यान्य सभ्यताओं की बराबरी करने में सक्षम स्वदेशी आधार प्राप्त हो जायेगा।

फिर भी, एक विश्वविद्यालय पर्याप्त नहीं है। हम यदि वास्तव में गांधीजी की स्मृति को जीवित रखना चाहते हैं, उसे प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो उनके नाम से अनेक विश्वविद्यालय चाहिए। गांधीजी ने हमें पश्चिमी शैली को छोडकर हमारी अपनी शैली के अनुरूप जीना सिखाया। गांधीजी का मानना था कि स्वस्थ और गौरवान्वित

समाज का हमारा स्वप्न साकार करने के लिये हमें भारतीय परम्परा और सभ्यता के ढांचे का आधार लेकर हमारी सामाजिक और आर्थिक रचनायें बनानी पडेंगी। भारतीय सनातन विचार के अधिष्ठान पर वर्तमान समय के अनुरूप व्यवस्था निर्माण करने के ही उन्होंने प्रयास किये हैं। यह बात ठीक है कि इस ढांचे की सूक्ष्मताओं में वे नहीं जा पाये, परन्तु उनका दर्शन इतना प्रभावपूर्ण था कि उन्होंने इस ढांचे की सहायता से ही सार्वजनिक जीवन में चेतना का संचार कर दिया। उनके स्वप्न से भारत के लोगों में ऐसा विश्वास जगा कि लोगों ने ब्रिटिश शासन का अन्त कर दिया।

गांधीजी ने इस प्रकार का काम खडा किया कि भारत के लिये स्वतन्त्रता एक निश्चितता बन गई। उनके सपनों को साकार करने के लिये हमने अब उचित ढांचे और उचित पद्धतियां निर्माण करनी चाहिये। गांधी विद्यापीठ यही काम करेंगी। उन विद्यापीठों में पूर्व, पश्चिम और अफ्रीका के पडोसी देशों का गहन अध्ययन होगा। गांधीजी जानते थे कि उनके विचारों को साकार रूप देने के लिये, उसके लिये एक संरचना निर्माण करने के लिये वडी संख्या में विचारवान लोगों की आवश्यकता होगी। अतः उन्होंने गांधी सेवा संघ को एक अनुस्नातक अध्ययन केन्द्र के रूप में कार्य करने का परामर्श दिया था। कुछ विद्यापीठों की स्थापना कर हम उनकी इच्छा आज भी पूर्ण कर सकते हैं।

केवल विद्यापीठों की स्थापना करने से ही काम पूरा नहीं होगा। गांधीविचार के मूल तत्त्व केवल ग्रन्थालयों एवं प्रयोगशालाओं तक सीमित होकर रह जाने से काम नहीं चलेगा। वे तो दैनन्दिन जीवनव्यवहार में अनुस्यूत होने चाहिये। गांधीजी के स्वप्न को साकार करना चाहते हैं तो ऐसा कुछ करना पडेगा जहां कम से कम एक राज्य गांधीजी की कल्पना का राज्य हो। गांधीजी के देहावसान के बाद देश को पश्चिमी तर्ज पर चलाने की चेष्टा में हमने राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया से लोगों को ही बाहर कर दिया है। गांधीजी ने जो विश्वास, मौलिकता और साहस जाग्रत किये थे उनको ही दबा दिया है। यदि हम एक राज्य को गांधीराज्य बनाने का विचार करते हैं तो इन सब को पुनःजाग्रत किया जा सकता है। यह राज्य गांधी विद्यापीठ की प्रयोगशाला बनेगा। सेवाग्राम इस गांधीराज्य की राजधानी और प्रशासन तन्त्र का महाविद्यालय बनेगा। इस प्रयोग में हमें कुछ भी घाटा होने की सम्भावना नहीं होगी। इस राज्य के अधिकांश रहीशों को भी कोई संकट या आपत्ति का सामना नहीं करना पडेगा। कुछ गिने चुने अत्यन्त सम्पन्न लोगों को कुछ घाटा अवश्य होगा।

परन्तु इस प्रयोग में यदि हम यश प्राप्त करते हैं तो इसका सन्तुलन बन जायेगा। महात्मा गांधी के स्वर्गवास के बाद एक ही वर्ष के अन्दर अन्दर स्वतन्त्रता संग्राम के अग्रणियों के मनमें विविध प्रकार की कल्पनाएँ जगी थीं। एक पक्ष के रूप में काँग्रेस और सांसद भारत का संविधान बनाने की गुत्थी में उलझ गये थे। यह संविधान तो आखिर पूर्ण रूप से इंग्लैण्ड के संविधान की तर्ज पर ही बना। वह भी ऐसी एक स्वतन्त्र देश की सरकार के लिये जिसे ब्रिटिशरों ने १५ अगस्त १९४७ को सत्ता का हस्तान्तरण किया था।

सन् १९४८ में सरदार वल्लभभाई पटेल ने श्री जयप्रकाश नारायण को एक लम्बा पत्र लिखा। उन्होंने कहा कि स्वतन्त्रता के पूर्व जो अनबन थी वह तो अब अतीत का किस्सा बन गई है। उसे भूलकर अब भारत के निर्माण के लिये सभी ने साथ मिलकर सहयोगपूर्ण तरीके से काम करना चाहिये। उनका सुझाव था कि श्री जयप्रकाश नारायण और भारतीय समाजवादी पक्ष भारत के एक राज्य को अपनी कल्पना के राज्य के रूप में चलाये, और यदि इसमें सहमति है तो भारत सरकार सभी आवश्यक बातों में अनुकूलता प्रदान करेगी।

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व अहमदाबाद में सरदार के घर में इस पत्र की प्रतिलिपि मैंने देखी थी। आज भी यह पत्र वहां होगा। जयप्रकाश नारायण को प्राप्त पत्र दिल्ली या पटना के उनके दफ्तर में होगा। श्री जयप्रकाश नारायण ने सरदार को क्या उत्तर दिया वह मेरी जानकारी में नहीं है।

सन् १९४८ से १९५२ के बीच अन्य गांधीवादी और सर्वोदयी नेताओं में आपस में भी इस प्रकार की बातें हुई होंगी। श्री रामदास गांधी और श्री मीराबहन इस प्रकार के स्वायत्त राज्य की रचना करना चाहते थे। उनका मानना था कि झारखण्ड में अथवा सांथालों के मध्य में इस प्रकार के राज्य की रचना की जा सकती है। इस प्रकार के राज्य में स्थानीय लोगों के आधार पर चलनेवाली स्वदेशी अधिष्ठान से युक्त सामाजिक, राजकीय, आर्थिक रचनायें होंगी ऐसा उनका अभिप्राय था। सन् १९४९-५० में कुछ मात्रा में ऐसी स्वायत्तता प्रदान करने का विचार भी हुआ था। परन्तु श्री जे. सी. कुमारप्पा जैसे सदस्यों की सहमति नहीं थी। उनको इसमें कुछ कपट का आभास हुआ। अतः उन्होंने इस विचार का स्वीकार नहीं किया। सन् १९५२ तक तो यह विचार समाप्त हो गया। दिल्ली के नेहरू संग्रहालय में मीराबहन और कुमारप्पा के कागजों में इस विषय की अधिक जानकारी प्राप्त हो सकती है।

गांधीविचार के अनुरूप रचना करने की बात जैसे ही कही जाती है। लोगों

बन जायेगा।
...न्त्रता संग्राम के
...रूप में कॉंग्रेस
... संविधान तो
...भी ऐसी एक
...४७ को सत्ता

...ायण को एक
...। वह तो अब
...लिये सभी ने
...ा था कि श्री
...ा को अपनी
...ारत सरकार

इस पत्र की
...यण को प्राप्त
...ने सरदार को

...ी नेताओं में
मीराबहन इस
...कि झारखण्ड
...कती है। इस
...ष्ठान से युक्त
...न् १९४९-
...। परन्तु श्री
...कपट का
...५२ तक तो
...कुमारप्पा के

को भय लगता है कि ऐसा करने से हम वर्तमान विश्व से कट जायेंगे
बन जायेंगे। यह भय सर्वथा आधारहीन है। गांधीजी केवल भारत
चिन्ता नहीं करते थे, वे सम्पूर्ण विश्व का विचार करते थे। उनकी
सभ्यता से थी क्यों कि उन्होंने भारत के लोगों पर अत्याचार कि
जब पश्चिम के देशों में गये तब उनकी समझमें आया कि उन्होंने
लोगों पर भी अत्याचार किये थे। इस प्रकार की सभ्यता में किसी के
की रक्षा नहीं हो सकती थी। गांधीजी जब नई व्यवस्थाएँ बनाने क
तब भारत के ही नहीं तो पश्चिम के लोगों के आत्मसम्मान का विचा
था। उनका विश्वास था कि भारत के सम्बन्ध में उनका सपना साक
पश्चिम को बचाने का रास्ता भी खुलेगा।

गांधीजी के सपनों को साकार बनाने के लिये इन पृष्ठों में
करने का साहस यदि नहीं है तो फिर सेवाग्राम में उनका भव
चाहिये। हम गांधीजी को अपनी परम्परा का एक भाग तो बना ही
कदाचित् अपनी परम्पराओं के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति कर
यह मन्दिर अत्यन्त सुन्दर तो होना ही चाहिये। स्थानीय सामग्री
बना हुआ भी होना चाहिये। भारत के पारम्परिक कारीगरों ने उसे
वह परम्परागत पद्धति से भारतीय होना चाहिये, सादगीपूर्ण और भ
तंजावुर के बृहदेश्वर के मन्दिर जैसा विशाल और बडा होना चाहिये
हजार शिलाओं पर भारत की कथा उत्कीर्णित होनी चाहिये। भारत
उदय हुआ तब से लेकर १९४७ तक की यह कथा बननी चाहिये

स्वदेशी शैली का यह मन्दिर बनने में अनेक वर्ष लगेंगे। प
को बनाने की प्रक्रिया में ही भारत के लोगों का विश्वास और शक्ति
ही प्रयासों से देखनेवाले को आश्चर्यमुग्ध कर देनेवाला कुछ बना पा
यह मन्दिर भारत की पुनर्जागृति का प्रतीक बनेगा। गांधीजी नूतन भ
हैं। वे अकेले ही इस मन्दिर के देव होने चाहिये। उनके माध्य
देशवासियों की देवता के रूप में प्रतिष्ठा होगी। शेष सारे देवों की
आसपास प्रतिष्ठित की जा सकती हैं।

गांधीजी के साथ इस प्रकार की भव्यता को जोडना कुछ ल
लगता है। परन्तु गांधीजी सादगी के हिमायती थे...

से निर्मित हो। जीवनभर भी ऐसी सादी, भव्य और स्वदेशी झोंपडी में ही रहे। वे कैसे जीए और उन्होंने कैसे कार्य किया इसका दर्शन सेवाग्राम की गांधीकुटीर में होता है। परन्तु यह कुटीर भी उनकी महानता को पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकती है। उनकी कल्पना की भव्यता भव्य मन्दिर के माध्यम से ही व्यक्त हो पायेगी। स्वदेशी कारीगरी, स्वदेशी परम्परा और स्वदेशी सामग्री से निर्मित यह मन्दिर जितना विशाल होगा उतना ही सादगीपूर्ण होगा। वास्तव में हम जब सादगी का सम्बन्ध गरीबी और दीनता से जोडते हैं तब हम उनके मर्म को ही नकारते हैं। हमें स्मरण में रहना चाहिये कि हमारे स्वाधीनता संग्राम में वे हमारे सेनापति थे। यह बात ठीक है कि जिस स्वप्न को साकार करने के लिये उन्होंने सेना खडी की थी वह स्वप्न उनकी मृत्यु के बाद बिखर गया। हम भी यदि उस स्वप्न को साकार करने के लिये योग्य रचनायें खडी नहीं करते हैं तो वह हमारा दोष होगा। उससे उनकी महानता कम नहीं होती। हम यदि उनकी स्मृति को जीवित रखना चाहते हैं तो उनकी विजय भी हमें मान्य होनी चाहिये। परन्तु यही हमारे बस की बात नहीं होती है। यदि उनकी विजय को मान्य करते हैं तो हमें भी नेताओं के विश्वास के साथ अपनी पद्धति से जीना पडेगा। आज तो हम अपने आप को जीते हुए तो मानते हैं फिर भी दबकर जीते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो हमने इण्डिया गेट और ज्योर्ज पंचम की प्रतिमा को उखाड कर फैंक दिया होता और उसी स्थान पर गांधीजी का मन्दिर बनाया होता। प्रतिदिन भारत के राष्ट्रपति वहां दर्शन करने जाते। ऐसा नहीं है कि गांधीजी का मन्दिर सेवाग्राम में ही बन सकता है। वह दिल्ली में इण्डिया गेट को हटाकर वहां भी बनाया जा सकता है।

यदि हम गांधीजी की विजय और उनकी श्रेष्ठता को मान्य नहीं करते हैं तो फिर उनकी स्मृति को जीवित रखने के प्रयास छोड देने चाहिये। सेवाग्राम में एक वटवृक्ष का रोपण करना चाहिये। यहां अश्वत्थ तो है ही। ऐसी मान्यता है कि गांधीजी बैठते थे उस दिशामें अश्वत्थ की टहनियां कुछ झुकी हुई हैं। अश्वत्थ के वृक्ष में गांधीजी की स्मृति सुरक्षित है। वटवृक्ष उनकी स्मृति को और दीर्घकाल तक संजो कर रख सकता है। गांधीजी को अश्वत्थ बहुत प्रिय था। अश्वत्थ में अक्षय प्राणशक्ति है। उसका बहुतांश नष्ट हो जाने पर भी प्राण बचे रहते हैं। जरा सा अवसर प्राप्त होते ही पुनः पल्लवित हो जाता है। अतः और कुछ नहीं कर सकते तो सेवाग्राम में एक वटवृक्ष बो सकते हैं। गांधीजी की स्मृति भी बनी रहेगी और भारतीय संस्कृति का वटवृक्ष फूल फल कर उस स्मृति के साथ एकरूप होगा।

लेखक परिचय

श्री धर्मपालजी का जन्म सन् १९२२ में उत्तर प्रदेश के मुझफ्फरनगरमें हुआ था। उनकी शिक्षा डी. ए. वी. कालेज, लाहौर में हुई। १९३० में ८ वर्ष की आयु में उन्होंने पहली बार गांधीजी को देखा । उसके एक ही वर्ष बाद सरदार भगतसिंह एवं उनके साथियों को फाँसी दी गई। १९३० में ही वे अपने पिताजी के साथ लाहौर में कोंग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में गये थे। उस समय से लेकर आजन्म वे गांधीभक्त एवं गांधीमार्गी रहे।

१९४० में, १८ वर्ष की आयु में उन्होंने खादी पहनना शुरू किया। चरखे पर सूत कातना भी शुरू किया। १९४२ में 'भारत छोडो' आन्दोलन में भाग लिया। १९४४ में उनका परिचय मीराबहन के साथ हुआ। उनके साथ मिलकर रुड़की एवं हरिद्वार के बीच सामुदायिक गाँव के निर्माण का प्रयास किया। उस सामुदायिक गाँव का नाम था 'बापूग्राम'। आज भी बापूग्राम अस्तित्व में है। १९४९ में भारत का विभाजन हुआ। परिणाम स्वरूप भारत में जो शरणार्थी आये उनके पुनर्वसन के कार्य में भी उन्होंने भाग लिया। १९४९ में वे इंग्लैण्ड, इझरायल और अन्य देशों की यात्रा पर गये। इझरायल जाकर वे वहाँ के सामुदायिक ग्राम के प्रयोग को जानना समझना चाहते थे। १९५० में वे भारत वापस आये। १९६४ तक दिल्ली में रहे। इस समयावधि में वे Association of Voluntary Agencies for Rural Development (AVARD) के मन्त्री के रूप में कार्यरत रहे। अवार्ड की संस्थापक अध्यक्षा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय थीं, परंतु कुछ ही समय में श्री जयप्रकाश नारायण उसके अध्यक्ष बने और १९७५ तक बने रहे। १९६४-६५ में श्री धर्मपालजी आल इण्डिया पंचायत परिषद के शोध विभाग के निदेशक रहे। १९६६ में लन्दन गये। १९८२ तक लन्दन में रहे। इन अठारह वर्षो में भारत आते जाते रहे। १९८२ से १९८७ सेवाग्राम (वर्धा, महाराष्ट्र) में रहे। उस दौरान चैन्नई आते जाते रहे। १९८७ के बाद फिर लन्दन गये। १९९३ से जीवन के अन्त तक सेवाग्राम, वर्धा में रहे।

१९४९ में उनका विवाह अंग्रेज युवति फिलिस से हुआ। फिलिस लन्दन में,

बापूग्राम में, दिल्ली में, सेवाग्राम में उनके साथ रहीं। १९८६ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी स्मृति में वाराणसी में मानव सेवा केन्द्र के तत्त्वावधान में बालिकाओं के समग्र विकास का केन्द्र चल रहा है। धर्मपालजी एवं फिलिस के एक पुत्र एवं दो पुत्रियां हैं। पुत्र डेविड लन्दन में व्यवसायी है, पुत्री रोझविता लन्दन में अध्यापक है और दूसरी पुत्री गीता धर्मपाल हाईडलबर्ग विश्वविद्यालय, जर्मनी में इतिहास विषय की अध्यापक है।

धर्मपालजी अध्ययनशील थे, चिन्तक थे, बुद्धि प्रामाण्यवादी थे। परिश्रमी शोधकर्ता थे। अभिलेख प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन बारह चौदह घण्टे लिखकर लन्दन तथा भारत के अन्यान्य महानगरों के अभिलेखागारों में बैठकर नकल उतारने का कार्य उन्होंने किया। उस सामग्री का संकलन किया, निष्कर्ष निकाले। १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी के भारत के विषय में अनुसन्धान कर के लेख लिखे, भाषण किये, पुस्तकें लिखीं।

उनका यह अध्ययन, चिन्तन, अनुसन्धान विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिये या विद्वता के लिये प्रतिष्ठा, पद या धन प्राप्त करने के लिये नहीं था। भारत की जीवन दृष्टि, जीवन शैली, जीवन कौशल, जीवन रचना का परिचय प्राप्त करने के लिये, भारत को ठीक से समझने के लिये, समृद्ध, सुसंस्कृत भारत को अंग्रेजों ने कैसे तोडा उसकी प्रक्रिया जानने के लिये, भारत कैसे गुलाम बन गया इसका विश्लेषण करने के लिये और अब उस गुलामी से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढने के लिये यह अध्ययन था। जितना मूल्य अध्ययन का है उससे भी कहीं अधिक मूल्य उसके उद्देश्य का है।

श्री जयप्रकाश नारायण, श्री राम मनोहर लोहिया, श्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय, श्री मीराबहन उनके मित्र एवं मार्गदर्शक हैं। गांधीजी उनकी दृष्टि में अवतार पुरुष हैं। वे अन्तर्बाह्य गांधीभक्त हैं, फिर भी जाग्रत एवं विवेकपूर्ण विश्लेषक एवं आलोचक भी हैं। वे गांधीभक्त होने पर भी गांधीवादियों की आलोचना भी कर सकते हैं।

इस ग्रन्थश्रेणी में प्रकाशित पुस्तकें १९७१ से २००३ तक की समयावधि में लिखी गई हैं। विद्वज्जगत में उनका यथेष्ट स्वागत हुआ है। उससे व्यापक प्रभावं भी निर्माण हुआ है।

मूल पुस्तकें अंग्रेजी में हैं। अभी वे हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। भारत की अन्यान्य भाषाओं में जब उनका अनुवाद होगा तब बौद्धिक जगत में बडी भारी हलचल पैदा होगी।

२४ अक्टूबर २००६ को सेवाग्राम में ही ८४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ।

मग्र

त्र

ी